आर्योदय

विश्वबन्धु

अर्धशताब्दीका उपहार

वैदिकाश्रम ग्रन्थ-माला
संख्या नं० ४

आर्योदय

अर्थात्

आर्यसमाजके स्वरूपका प्रतिपादन, उसकी वर्त्तमान स्थितिका पर्यालोचन तथा भावी विकासका निरूपण

लेखक—
श्री विश्वबन्धुशास्त्री ऐम. ए. एम. ओ. एल.
आचार्य
दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर।

प्रकाशक
श्री देवदत्त शास्त्री विद्याभास्करने
श्रीमती प्रबन्ध-कर्त्री सभा,
डी.ए.वी. कालेज, लाहौरके लिये प्रकाशित किया।

—:o:—

मुद्रक 'हिन्दी प्रेस' मकलेगन रोड, लाहौर।

प्रथमवार २००० | दयानन्दाब्द १०३ वैक्रमाब्द १९८४ | मूल्य १) स्थिरग्राहकोंसे ।।।-)

लेखककी अन्य पुस्तकें

१. **वेदसन्देश,** १ म भाग,
(२ य संस्करण) १॥)

२. **वेदसन्देश,** २ य भाग १)

(इनमें वेदके मन्त्रोंको रोचक कथाके रूपमें व्याख्या करते हुए शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकासका निरूपण किया गया है)

३. **देवयज्ञ प्रदीपिका** १।)

(इसमें कर्मकाण्डके महत्व पूर्ण स्वरूपका प्रतिपादन तथा आर्यसामाजिक सम्पूर्ण हवन मन्त्रोंका व्याख्यान है)

स्थिर ग्राहकोंको पौने मूल्यपर और सभासदोंको मुफत मिलती हैं ॥

पताः—मैनेजर वैदिकाश्रम
ग्रन्थमाला लाहौर ।

॥ ओ३म् ॥

समर्पणम्

अगाधभावोऽनुभवी सुविद्य-

स्तपोधनः शान्तिसखो महात्मा ।

रतः प्रचारे श्रुविधर्मकीर्त्ते-

विराजमानो गुरुहंसराजः ॥ १ ॥

सदा जनानां हितबुद्धियुक्तः

सुदान्तवृत्तिः प्रविलीनमोहः ।

उपक्रमात् ज्ञानततौ प्रयत्नं-

करोति तल्लग्नमना मनस्वी ॥ २ ॥

अपक्कभावान् उपहाररूपां-

स्तदीयपादाम्बुजयोर्दधामि ।

विवेकवित्तो गुणदोषयुक्तान्

परीक्षणार्थं स उरीकरोतु ॥ ३ ॥

॥ ओ३म् ॥

समर्पणम्

पूज्य महात्मा हंसराज जी,

आप आर्यसमाजके आदि वीर योधाओंमें से हैं। आपने इसके विकास तथा विस्तारके समग्र इतिहासको न केवल अपनी आंखोंसे देखा है, वरन् उस के बनाने और वर्तमान स्थिति तक पहुंचानेमें प्रमुख नेताका कार्य किया है। इस ग्रन्थमें जो २ उत्तम विचार हैं, उन्हे मैंने आपके सत्संगसे ही संगृहीत किया है, परन्तु अपनी स्वाभाविक चंचलताके कारण कई प्रकारके कच्चे विचारोंको बीचमें मिलनेसे रोक नहीं सका। इस प्रकारकी मिली जुली भेण्ट आपके चरणोंमें सादर समर्पित करता हूं। आशा है कि आप इन विचारोंमें जो त्रुटियां हैं, उन्हें निकाल कर, इन्हें जनताके उपकार का साधन बनाएंगे।

आपका एक तुच्छ सेवक—

विश्वबन्धुः

प्रस्तावना

१. इस पुस्तकका उद्देश्य मेरी अन्य पुस्तकोंकी भान्ति वेदकी व्याख्या करना नहीं है । इसमें मेरा यह प्रयत्न है कि मैं आर्यसमाजके अर्धशताब्दी-महोत्सवके शुभावसर पर, आर्यसमाजके कार्यकी समालोचना तथा भावी विकासके साधनोंका कुच्छ संकेत कर सकूं । गत सात आठ वर्षोंमें इन विचारोंको प्रकट करनेके लिये मुझे भिन्न २ अवसर प्राप्त होते रहे हैं । इस पुस्तकमें उन विचारोंको तथा अन्य कई नये भावोंको अलग २ निबन्धोंके रूपमें रखा गया है ।

२. साहित्य और विचारकी दृष्टिसे इस पुस्तकको जनता कैसे ग्रहण करेगी, इस विषयमें मैं कुच्छ नहीं कह सकता । पर हां, मुझे एक बातका संतोष । मैंने अपने भावोंको खुले हृदयसे प्रकट कर दिया है । अब यह आर्य जनता तथा विद्वानोंका कार्य्य है कि अच्छी प्रकार परीक्षा करके, यथार्थताका निश्चय करें । मैं इन विचारोंको सर्वतन्त्र सिद्धान्त कह कर लोगोंके सामने नहीं रखता । ये केवल इशारे हैं । इनके प्रकाशमें आर्यसमाजके भावी कार्यक्रमका ढांचा तय्यार करना चाहिये । मेरा अनुभव बहुत थोड़ा है । संभव है, इन संकेतोंमें कुच्छ ग्रहण करनेके अयोग्य हों । मुझे इससे बढ़ कर क्या प्रसन्नता होगी कि मेरे पाठकोंमेंसे कोई मुझे ठीक मार्ग पर डालनेका प्रयत्न करे । इन शब्दों और इस आशाके साथ इस ग्रन्थको अभीष्ट यात्रापर रवाना करता हूं ॥

वैदिकाश्रम, लाहौर
पौष संक्रान्ति, १९८४

विश्वबन्धुः

विषयसार सूची

* ओ३म् *

१—धार्मिक चक्रकी गति।

१. धार्मिक नेताओंका यह विश्वास है कि प्रचारकोंके अभावसे सारा धर्म कर्म नष्ट हो जाता है। कुछ एक ऐसे भी विचारक हैं, जिन्हें यह बात मिथ्या भ्रम सी प्रतीत होती है। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने २ स्वभाव तथा परिस्थितिके अधीन होकर सब प्रकारकी चेष्टाओंको करता है। उसकी बुद्धि उसके स्वभावके अनुकूल संस्कारोंको ही मुख्यरूपसे ग्रहणकरती है। इस स्वभावका रोकना अथवा भिन्न मार्गपर चलाना ऐसेही है, जैसे एक जंगली हाथीको मृदु सूत्रसे बांधनेका कार्य्य। यही प्रबल संस्कार भावी जीवनकी प्रवृत्तियोंका मूल कारण बनता हुआ, मृत्युके पीछे दूसरे जीवनमें भी हमारा साथ देता है। सामुदायिक जीवनमें इस प्रकारके संस्कारोंका गुप्त प्रभाव बड़े भारी बलसे युक्त होकर, भान्ति २ के रीति रिवाजोंके रूपमें प्रकट होता है। इसका प्रभाव सिन्धुके समान अप्रतिहत वेगसे रात दिन चलता है।

२. कभी २ कोई मनचला तैराक इस प्रबल प्रवाहको आर पार चीरता हुआ दिखाई पड़ता है। वह अपनी छाती और भुजाओंके बलसे कदाचित् कुछ साथियोंको भी किनारे लगाता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु हा, देखो, थोड़े समयमें ही सामाजिक नभोमण्डलमें पापके बादल छा जाते हैं। चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा हो जाता है। उस वीरके साथी, उस भयानक प्रलयकालीन चित्रमें 'वह गया, वह गया' कहते हुए

आंखें लगाए रह जाते हैं। वह सायं समयके सूर्यके समान श्याम मेघमालाके पीछे कहींका कहीं निकल जाता है और उनके सिरपर अमावस्या छा जाती है।

३. उस समय न मित्रका बोध और न शत्रुका परिचय रहता है। रोते धोते हुए, उस महाभयङ्कर, ग्राहाक्रान्त, भवसिन्धुके भीषण प्रवाहके थपेड़ोंसे जी हार कर ग़ोते खाने लग जाते हैं। कुछ कालके पीछे फिर एक गर्ज आती है। मानों, उदय होने वाला, भासमान भानु गगनमण्डलको चीर कर बाहिर निकला है। अत्यन्त अन्धेरी रात्रिमें घने मेघोंके अन्दरसे उठती हुई बिजलीकी लपककी सी ज्योतिसे उनके नेत्र चकाचौंध हो जाते हैं। इतना तीव्र प्रकाश और शब्द उन्हें सोचनेका भी अवसर नहीं देता। विवश पीछे चल पड़ते हैं। परन्तु बेचारे फिर एक वार वहींके वहीं रह जाते हैं और यह शूरवीर भी आगे निकल जाता है।

४. यही अवस्था संसारमें बनी रहती है। समय २ पर महापुरुष बड़े समारोहके साथ मैदानमें आते रहते हैं। सबको भवसागरसे पार करानेका दम भरते हैं। बड़ा परिश्रम भी करते हैं। परन्तु होता क्या है? संसार जहांका वहीं रहता है। श्रीरामचन्द्रजी, श्रीकृष्णचन्द्रजी, महात्मा बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु श्रीशंकराचार्य्यादि अनेक महानुभावोंने पूर्ण आत्म-समर्पण करके हमारे बचावकी विधिको निकाला। उन्हें विश्वास भी होगया कि जनता अब ठीक मार्गपर चल निकली। परन्तु यदि यह ठीक होता, तो सहस्रों वर्ष पूर्व अलापे हुए रागोंको पुनः अलापनेकी आज क्यों आवश्यकता होती? स्वामी

दयानन्द जी स्वयं अपने सन्देशकी नवीनतासे नकार करते हैं। अब इसका प्रचार तो किया जावे, पर भरोसा क्या है कि यह विचार सदा स्थिर रहेगा। यदि पहिलेकी भान्ति सब कुछ अस्थिरतासे दूषित है, तो फिर व्यर्थ प्रयाससे क्या लाभ? यही उचित है कि जनताको स्वाभाविक प्रवृत्तिपर छोड़कर, जहां तक बने, आनन्दसे समय बितानेकी करनी चाहिये।

५. क्या वस्तुतः यही बात है? क्या निराशाके अथाह सागरमें डूबनेके सिवाय हमारे भाग्यमें और कुच्छ है ही नहीं? यह मानना कठिन है। ऐसा मानना संसारकेलिये विषैला प्रतीत होता है। नित्यके व्यवहारसे उलटा भी दिखाई देता है। प्रतिदिन पेट भरनेपर भी भूक सदाके लिये शान्त नहीं हो सकती; तो क्या वह मनुष्य बुद्धिमान् समझा जावेगा, जो केवल इसी हेतुसे व्रती होनेका निश्चय करना चाहता है। जैसे भूक और उसकी शान्ति का शासन-चक्र सदा चलता है, ऐसेही संसारमें धार्मिक भूक और उसकी तृप्तिका चक्र भी घूमता रहता है।

६. पूर्वपक्षका विचार कारण और कार्य्यको उलटा करदेनेका परिणाम है। इस मतके अनुसार महापुरुष स्वतन्त्र रीतिसे कार्य्य करके चले जाते हैं। पीछे खेतीके पकनेके स्थानपर हरा भरा खेत या तो पक्षियों से खाया जाता है, या कीड़ोंका शिकार बनता है। और यदि इन शत्रुओंसे वह बच भी जावे, तो ओले पड़ते हैं और सड़ जाता हैं। अर्थात् पाप, व्यसन और दुराचारकी बाढ़ उस नये लगाए हुए उपवनको बहा ले जाती है। कई वार तो पता ही नहीं चलता कि यहां कोई स्थली थी भी या नहीं।

७. यह करुणारसपूर्ण चित्र साधारण जगबीतीका एक मन-भाता वर्णन है, पर अधिक विचार करनेसे इसका अधूरापन झट जंचने लगता है । महापुरुष वास्तवमें अपनी परिस्थितिकी उपज हुआ करते हैं । भूक सबको लगती है, परन्तु उसकी निवृत्ति कई प्रकारसे होती है। इसी प्रकार भिन्न २ देशोंमें जब पापका चक्र निर्बल प्राणियोंको पीसता और सबलोंको अत्याचारी बना २ कर नष्ट करता है, तो मानो, पृथिवी चीख़ती और पुकारती है । चारों ओर हाहाकार मच जाता है । संस्कारी आत्माओंपर बड़े वेगसे प्रभाव पड़ता है । उनकी आन्तरिक विशुद्धि सामयिक मलिनतासे रगड़ खाती है । विद्युतकी चिनगारी निकलती है । गरमी पैदा होती है । जोश उभरता है । प्रबल वेगसे नई तरंग चलती है । कुच्छ कालतक ऐसे ही रहता है । शनैः २ ढीलापन आने लगता है । सामाजिक शरीरमें मृत्युकीसी ठण्डक प्रतीत होती है। दूसरी वार फिर अशान्ति बढ़ती है और उसी प्रकार और लहर चलती है । पुनः चक्र चलने लगता है और तान्ता सा बन्ध जाता है । संसारके नित्य प्रवाहपर हमारी आशा और निराशाका या तो प्रभाव पड़ता ही नहीं, और यदि पड़ता भी है, तो समुद्रमें बिन्दुके समान अलक्ष्य होता है ।

८. यदि अफ़्रीकामें अपने भाइयोंकी दुर्दशा न होती, यदि भारतमें अत्याचार न होता, रौलेट एक्ट और मार्शललाकी भरमार न की ज़ाती, तो महात्मा गांधी जो अब हैं, वह न होते । यदि सामाजिक विषमताकी विकटता और हिंसाकी क्रूरता अतिमात्र न होगयी होती, तो महात्मा बुद्धका प्रचार,

उनके स्वाभाविक विचारोंके उच्च तथा पवित्र होनेपर भी, इतना विश्व-व्यापी न हो सकता। इसी प्रकार स्वामी दयानन्दजीके समयकी राजकीय, जातीय तथा धार्मिक स्थितिका ज्ञान लेना, स्वामीजी तथा उनके सन्देशकी आवश्यकता तथा समयानुकूलताका जानना है।

९. देश अस्वतन्त्रताके आयस पाशमें सैंकड़ों वर्षोंसे जकड़ा पड़ा था। आर्य-जाति, सब जातियोंकी माता, सामाजिक बुराईयोंसे बेहाल हो रही थी; अनाथोंकी चीखें और विधवाओं की पुकारें दिनमें सहस्रों वार निकलती थीं, इसका मृत्यु-नाद बज रहा था, पवित्र वैदिक-धर्मकी पुरानी शोभा अब दिखाई न पड़ती थी, उसके नामपर नाना प्रकारके पाखण्डोंका साम्राज्य बन रहा था। संक्षेपतः देश, जाति और धर्मका अन्तरात्मा जीवनकी स्वतन्त्रता तथा संशुद्धिकेलिये बिलबिला रहा था। यह आन्तरिक इच्छा, यह उद्वेगमयी लालसा, यह तीव्र पिपासा, यह मृत्युपाशसे मुक्तिकी कामना, मानो, ऋषि दयानन्दका शरीर धारणकर मूर्तावस्थामें पर्दे फाड़ कर प्रकट हो रही थी।

१०. ऋषियों को प्रत्येक युगमें अपनी हालतके अनुसार दर्शन होता है, इसलिये ऋषि दयानन्दका दर्शन कोई असम्बद्ध घटना नहीं, इसका उस समयकी स्थितिके साथ कार्य और कारणका अटूट सम्बन्ध है, यह नहीं हो सकता कि आटेसे बालकी न्याईं इस महापुरुषकी चलाई हुई नीतिको संसारके इतिहास-फलकसे नीचे उतारकर परे फैंक दिया जावे।

११. जब एक महात्मा किसी सामयिक लक्ष्यको रखकर कोई आर्य आदर्श पेश करता है, तो उस लक्ष्यके पूरा होजाने पर

उस आदर्शके प्रति विशेष आस्थाका रहना कठिन होजाता है, अथवा एक बुराईको दूर करनेके लिये एक महापुरुषमार्ग निकालता है, परन्तु समय पाकर उसके अनुयायियोंमें शक्तिकी वृद्धिके साथ पाप और अत्याचारका भाव भी बढ़ जाता है। तो बस, पापीको मारनेके लिये पापही पर्य्याप्त होता है। हमारा विश्वास है कि आर्य-धर्मका लक्ष्य सामयिक नहीं, वरन् नित्य है। दूसरी आशंकाका उत्तर भी आगे अपने स्थानपर आ जावेगा।

१२. इस भूमिकामें यह स्पष्ट करनेका यत्न किया गया है कि समय २ पर प्रचारकोंका आना कल्याण ही करता है। कुछ पवित्रता तो अधिक होती है। यह बचावका स्रोत भी बन्द होजावे, फिर तो परमात्मा ही जाने, हमारी क्या दशा हो! अब कमसे कम यह तो कह सकते हैं कि दशा चाहे उत्तम नहीं हुई, वैसीकी वैसी तो रहती है। धर्मका बीज तो बचा रहता है। इस धर्म-रक्षामें कोई दिव्य रहस्य है। परमात्माकी इच्छा यही प्रतीत होती है कि धर्मकी वृद्धि हो और अधर्मकी हानि हो।

---:o:---

२—आर्य्य धर्मका अधिकार।

१. कुछ लोगोंको अनेक सम्प्रदायोंके होते हुए एक नये सम्प्रदायका खड़ा करना पिष्ट-पेषण प्रतीत होता है। उनका विश्वास है कि भिन्न २ जातियोंमें और भिन्न २ देशोंमें समयका चक्र स्वयमेव वहांके आचार विचार तथा धार्मिक मर्यादाओंमें भेद पैदा करदेता है, जैसे हरिवर्ष (योरुप)

तथा पाताल (अमरीका) का रहन सहन तथा वस्त्र पोशाकका अनुकरण हमारेलिये प्रायः उलटा ही पड़ता है, जैसे अन्धाधुन्ध दूसरोंके पीछे चलना दुःख सागरमें ही डुबाता है। वैसे ही हमारा दूसरे लोगोंमें प्रचार करना और उनका अनुकरण करना उन लोगोंकेलिये भी विशेष लाभकारी नहीं हो सकता।

२. उनके हालातके अनुसार वहां कई मतोंका प्रचार है। जब उनके जीवनमें बाह्य प्रभावसे अथवा आन्तरिक विकाससे कोई विशेष परिवर्तन पैदा होगा, तो उनके अपने अन्दरसे ही विचारों तथा सिद्धान्तोंमें भी भेद की सामग्री उपज पड़ेगी। इसलिये एक भारतीय सम्प्रदायको भारतसे बाहिर ले जानेमें, जहां वहांके लोगोंको विशेष लाभ न होगा, वहां वह स्वयं भी केन्द्रसे परे हट जानेसे छिन्न भिन्न हो जावेगा।

३. क्या यह बात वस्तुतः ऐसी ही है? हमें सन्देह ही नहीं, निश्चयसे कह सकते हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें मौलिक भेद पाया जाता है। रहन सहन तथा वस्त्र आदिका व्यवहार जल वायुके अवस्थाके अधीन होता है। यदि हम चाहें कि नार्वे और स्वीडन देशमें आर्य धर्मका प्रचार तब तक नहीं होगा, जब तक कि सारे सदस्य धोती न पहनेंगे अथवा वस्त्र उतार भोजन न करेंगे, तो प्रलय पर्यन्त भी यह हमारी इच्छा पूरी न हो सकेगी।

सचमुच जिन लोगोंने अपने मस्तकको इन बाहिरकी बातोंके अधीन कर दिया, जिन्होंने लम्बे २ टीके और छापोंमें

ही अपने धर्मकी इतिश्री समझली, उनमें बहुत शीघ्र साधारण लोगोंके प्रति घृणाका भाव पैदा हो गया ।

४. उन्हों ने छुआछूतका शिकार बनकर भ्रष्ट होजानेके भ्रमसे घरसे बाहिर निकलना बन्द कर दिया और कूएंके मंडूककी तरह अपने ग्रामको ही संसारका केन्द्र मान मन प्रसन्न करते रहे । यही कारण था कि वह वीर जाति, जो किसी समय संसारके कोने २ में अपना सिंहनाद बजा चुकी थी, शनैः २ इन मिथ्या बातोंको ही अपने जीवनका आधार समझकर बाहिर जाकर कमाना और वृद्धि करना तो दूर रहा, अपने घरमें भी निहत्थी होकर अपनी रक्षासे हाथ धो बैठी ।

इसमें संदेह नहीं कि थोड़े बहुत अनुकरणको छोड़कर बाहिरके जीवनका सम्पूर्ण अनुकरण करना जातियोंके नाशका कारण हुआ करता है । स्वदेशी वस्तु तथा रीतिरिवाजसे प्रेम करना जातीयता तथा देश-भक्तिकाजीवन है । जिन लोगोंमें परतन्त्रताका बीज बोया जाता है, उनके अन्दर इस उत्तम गुणका अभाव दिखाई देता है । जो अपनों पर नाकचढ़ाते और दूसरोंके सामने रगड़ते है, उनका लक्षण ही यही है कि उनको अपने देशकी वस्तु प्यारी नहीं लगती ।

५. वह जातियां जीती और बढ़ती हैं जिनके पुत्रों और पुत्रियोंके हृदयमें अपने देशके पदार्थोंकेलिये अद्भुत प्रेम विकसित रहता है । उन्हें अपने नदी और नालोंमें, पर्वत और जंगलोंमें, ग्राम और नगरोंमें, पशु और पक्षियोंमें, अपनी भाषामें और पोशाक तथा खेल-तमाशोंमें संसारके सब वैभव और ऐश्वर्यसे अधिक आनन्दका अनुभव होता है ।

वे धन्य हैं, जिनके हृदयोंमें यह प्रेमाग्नि कभी ठण्डी नहीं पड़ती। वे निर्धन होते हुए भी देशभक्तिके महाधनके धनी होते हैं। वे अन्दरसे निहाल रहते हैं, चाहे लोग उन्हें कितना ही बेहाल क्यों न समझते हों।

६. परन्तु आर्यधर्म्म किसीको यह शिक्षा नहीं देता कि वह इसे अपनाते ही अपनोंको छोड़ दे। यह तो इस बातमें अपनेको कृतकृत्य समझता है कि सब जातियां मौलिक सच्चाइयोंको समझकर अपनी परिस्थितिके अनुसार उनपर आचरण करें और फल पावें। इन सच्चाईयोंका आत्मा तथा बुद्धिके साथ सम्बन्ध है। इनपर जल और वायुका कोई प्रभाव नहीं। आत्माकी ज्योति सर्वत्र प्रज्वलित होरही है। बुद्धिका विकास सर्वत्र सम्भव है। विचारके संघर्ष तथा अनुभवकी अकाट्य युक्तिके सम्बन्ध होतेही भावों की समताका आदर्श तक पहुंचना आसान होजाता है। अतः पोशाक और भोजनमें, मकानों और दुकानोंमें हम कभी दख़ल नहीं देंगे। यह होसकता है कि विचार परिवर्तनसे इन बातोंपर भी प्रभाव पड़े और इनमें भी अन्तर पैदा हो, परन्तु प्रथम हमारा लक्ष्य धार्मिक विचारोंका संघर्ष है। आत्मिक जीवनका संसर्ग होते ही दूसरे चेतनपर झट प्रभाव पड़ जाता है। अतः इस कथनमें कि भारतीय-धर्म्म केवल भारतके लिये ही है, कोई सार प्रतीत नहीं होता।

७. पुराने भारतवासियोंने अपने सिद्धान्तोंको अपने तकही सीमाबद्ध नहीं किया था। आर्य तथा बौद्ध प्रचारक—दलोंने आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व अपनी उदारता, कुशाग्र-

बुद्धि तथा साहसका पूर्ण परिचय देते हुए, पूर्व और पश्चिमको विचारकी एकताके सूत्रमें बान्धनेका यत्न किया। अपने साहित्यके प्रमाणोंके अतिरिक्त पुराने वस्तियोंके खण्डरोंमें, खुदाइयोंके परिणामोंमें, चीन आदि प्राचीन देशोंके इतिहास और साहित्यमें इस विषयके अनेक प्रमाण मौजूद हैं। यह लोगोंकी सर्वथा भूल है, जो समझ लेते हैं कि आर्य-धर्म कभी भी भौगोलिक नहीं हुआ। उनके विचारमें यह भाव, कि हम भी संसारको अपने धर्मका अनुयायी बनालें, ईसाइयोंकी जूठ है। यह बात ठीक नहीं है। आगे चलकर इस बातकी पूरी परीक्षा भी की जावेगी।

८. ईसाई और मुसल्मान तथा अन्य पुरुषार्थी लोग इस तत्त्वको अधिकांश समझकर काम करते हैं। मराकूसे लेकर चीनतक मुसलमानोंको देखते हुए चले जावें। उनका भोजन, उनकी पोशाक और उनकी बोली भिन्न २ होती हुई दिखाई देगी। परन्तु उनके अन्दर संगठनके बहुतसे सूत्र बहुत कड़े हैं। ईसाइयोंमें और भी खुलापन दिखाई देता है। इंगलैण्डसे आप स्काटलैण्डमें ही चले जावें। आपको बहुतसी बातोंमें भेद दिखाई देगा। फ्रांस और इटलीमें कितना थोड़ा अन्तर है, परन्तु दोनों देशोंके वासी अपने २ रीति रिवाजों, अपनी २ भाषा, अपनी २ जातीय स्वतन्त्रतापर एक जैसे लट्टू हैं। उनका ईसाई होना इस बातमें बाधक नहीं।

९. इसलिये स्पष्ट है कि धर्मका यदि इन बातोंके साथ सम्बन्ध है भी, तो वह बहुत दूरका है। जैसे योरुप और अमरीका वालोंको हज़ारों कोसोंसे आकर यहांपर प्रचार करते

हुए कोई आश्चर्य नहीं होता, वैसेही हमको भी उन लोगोंमें प्रचार करते हुए न होना चाहिये। प्रत्येक जातिके लोग अपने हित तथा अधिकारोंका पूरा विचार भी कर सकते हैं और साथही धर्मके सम्बन्धमें विचार परिवर्तन करते कराते हुए, परस्पर एकताके सूत्रमें पिरोये भी जा सकते हैं। हाँ, जब विचारभेद असहिष्णुताका साथी बनकर जनभेदका साधन बनता हो, तब वस्तुतः धर्मप्रचार जनताके जीवनका नहीं, वरन् मृत्युके द्वारका खोलने वाला होगा।

१०. सबके सब लोग न राजनैतिक नेता बनेंगे और न ही सारे युद्धमें अग्रणीय होंगे। किसीको रसायन शास्त्रमें, किसीको गणित शास्त्रमें और किसीको किसी और शास्त्रमें आनन्द आवेगा। कुछ ऐसे लोग भी होंगे, जिनकी रुचि साम्य-वाद और जीवनकी शुद्धिके प्रचारमें होगी। जैसे जीवनके दूसरे विभागोंमें स्वतन्त्रता है, वैसेही धर्म प्रचारके कार्यमें अपनी प्रवृत्तिके अनुसार लगनेवालोंके मार्गमें कोई रुकावट न होनी चाहिये। परन्तु आजका सभ्य संसार इस विभागको कुछ सन्देह, कुछ भय और कुछ द्वेषकी आंखसे देखता है। यह अव-हेलना बन्द हो जानी चाहिये। जिनकी इस पवित्र कार्यमें लगन है, उन्हें अपनी रुचिको आत्माकी शुद्ध ध्वनि समझकर उसके अनुसार बननेका यत्न करना चाहिये। ज्यों ज्यों धर्मके स्वरूपपर संसार अधिक ध्यान देगा, यह विश्वास जानिये कि देश-हित, जाति-हित तथा अन्य सब सुखों और कल्याणों का स्रोत इसीसे निकलता हुआ पावेगा। वस्तुतः धर्मही सब सफलताका मूलाधार है।

———:o:———

३—आर्य धर्मकी सार्व-जनिकता।

१. पश्चिमी विचारके पीछे चलने वाले लोगोंके मनमें यह समाया हुआ है कि भारतीय लोग पूर्व-कालमें अपने धर्म-प्रचारमें, ईसाई तथा मुसलमानोंकी भांति कभी पुरुषार्थी नहीं हुए। क्या यह ठीक है?

२. आर्य लोगोंका विचार है कि सारी जातियां हमसे पैदा होकर दूर जाकर बसी हैं। शनैः शनैः पुराने विचार नई परिस्थितिमें जाकर, रूपान्तरको धारण करते गये हैं। इस विचारके अनुसार भूमण्डलके मनुष्योंका आदि-धर्म आर्य-धर्म था।

३. शास्त्रोंमें ऋषियोंने धर्महीन अवस्थासे ऊपर उठनेका सुनहरी नियम वर्णन किया है। जीवनमें जो त्रुटि हो, उसे पूरा करके अपनी प्रथम श्रेष्ठ अवस्थातक मनुष्यको पहुंचाना इस नियमका तात्पर्य है। यही प्रायश्चितका भाव है। आर्य्योंने चारों ओर अपने पतित-पावन मन्त्रोंका प्रचार किया। इस बातकी पुष्टिमें वेदसे लेकर ब्राह्मणों, उपनिषदों, स्मृति तथा पुराणों तकमें प्रमाण मिलते हैं*।

---

* अधिक विस्तारके लिये इन प्रमाणोंको देखो, सायण भाष्य सहित, ऋ० १०। ७१। ३॥; ऋ० १। ५१।८॥; ऋ० १०। ६५। ११॥; ऋ० ६। २२। १०॥; ऋ० ९। ६३। ५॥; अथर्व० १९। ६२। १॥; यजु० १८। ४८॥; देवल० १७-२०॥; गीता० ९। ३२॥, भागवत० २। ४।१८।; अग्निपुराण २६५। २१-२२॥, भविष्य०, ब्राह्म० १३९,१४० तथा प्रतिसर्ग० खं० ४॥ अ० २१॥

४. उस समय आर्यजनतामें जीवनका एक स्रोत बहता था। यदि उनके संसर्गमें कोई मृत-प्राय प्राणी भी आता था, तो उनमें उसे जिलानेकी शक्ति थी। आर्य विचारके अनुसार द्विज अपनी मर्यादासे पतित होकर 'व्रात्य' बन जाते थे। मनु तथा अन्य स्मृतिकारोंके मतके अनुसार भारतके चारों ओर इन व्रात्योंकी जनता बसी हुई है। इनके आर्यधर्ममें वापिस न लाये जा सकनेका कारण शास्त्रका अभाव नहीं है, बल्कि उन लोगोंका अभाव है, जो शास्त्रसे जानकारी रखते हों और उसे कार्यरूपमें लानेकी शक्ति रखते हों। यही लोग सच्चे ब्राह्मण होते हैं।

५. यदि ऐसे भद्र, धर्मात्मा ब्राह्मणोंका अभाव न होता, तो सूत्र ग्रन्थों और स्मृति ग्रन्थोंके उद्धारात्मक वचन व्यर्थ क्यों पड़े रहते? वस्तुतः प्रमाणोंकी कमी नहीं। सामयिक उदाहरणसे इस बातको अधिक स्पष्ट किया जासकता है। बड़े २ आचार्य्यों और शास्त्रियोंने आज हमारे सामने पतितोद्धार तथा शुद्धिके पक्ष में व्यवस्थायें दी हैं, परन्तु इससे बढ़कर खेदकारी दृश्य और क्या हो सकता है कि जब इन व्यवस्थाओंका वर्त्तावमें लानेका समय होता है, तो यही भलेमानस, मूर्ख जनताकी कोपाग्निसे भयभीत होकर अपनी प्रभुताकी रक्षार्थ अपने ज्ञानके अनुकूल शब्द निकालनेमें अप्रभु हो जाते हैं। जब तक इनको निश्चय है कि हमारी व्यवस्थाओंका हमारे अपने साथ समीपवर्ती सम्बन्ध नहीं है और घोषणाद्वारा हम सार्वदेशिक नेतृमण्डलमें गिने जासकते हैं, तब तक तो ये बड़े उदार-मति और स्वतन्त्र विचारक होनेका दम भरते हैं। परन्तु ज्योंही पण्डितजीसे प्रस्ताव हुआ कि महाराज, आपके पड़ौस वाले

कुएंपर आज चमार चढ़ेंगे, तो बस, पण्डितजीका मुखमण्डल प्रातःकालके चन्द्रके समान फीका पड़ जाता है। अब हृदय कांपता है और भागनेकी करते हैं। कई महात्मा इतने घबरा जाते हैं कि अपने किये कराये प्रस्तावोंके विरुद्ध, परम-पुनीत सनातनधर्मकी आड़में व्याख्यान फटकारने भी आरम्भ कर देते हैं। अब यह स्पष्ट होगया होगा कि ज्ञान और शक्तिवाले ब्राह्मणोंके अभावने किस प्रकार जीते जागते आर्य धर्मकी नौकाको कहीं मंझधारमें और कहीं दलदलमें फंसा रखा है।

६. यदि पहिले दिनोंसे आर्य्योंमें यही भाव होता, तो चीन, जापान, लंका, मिश्र और यूनान आदिमें न कभी जाते, न आर्यधर्मका संदेश पहुंचाते, और न ही समुद्रसे पार जाकर भी वे अभ्रष्ट रूपमें अपने आपको प्रतिष्ठित रख सकते। न ही जावा, समाट्रा, बाली और अन्य द्वीपोंमें अपने उपनिवेश बना सकते, न ही दक्षिण भारतको आर्य धर्मका गढ़ बनाते, न ही अनेक हूण, शक आदि जातियोंको, जो समय २ पर यहां आईं, अपनाते, अपनी भाषा देते, और अपना नाम देते और अपना आप देते। न ही शंकराचार्य्य और रामानन्द बिछड़े हुए भाइयोंको पुनः गले लगाते।

७. व्यक्तिगत और सामुदायिक शुद्धि भारतमें कभी बन्द नहीं हुई। जब भी आर्य्योंको अवसर मिला, उन्होंने उसका उपयोग किया है। मुसल्मानोंके लिखे इतिहासोंसे भी इस बातका पता चलता है। इस्लामकी उस तीक्ष्ण असिधाराके आगे, जिसके आगे न अफ्रीका रहा और न ईरान बचा, भारतवर्ष मरते २ भी मार मार कर जीवित रहा। यह संगठनका अभाव था, जिसने आर्य्योंको फिर पुराने रंग ढंग पर आने नहीं दिया।

इसलिये यह कहना कि हमें धर्म-प्रचारका काम ईसाइयोंने सिखाया है, निर्मूल भ्रम है। हमारा तो विश्वास है कि ईसाइयोंने इसे स्वयं पुराने आर्य्योंसे ग्रहण किया था।

८. मसीह यहूदियोंमें पैदा हुआ। उसके सारे चेले यहूदी थे। यहूदी अपने विचार कभी दूसरोंको न देते थे। एकाएक ईसाई संप्रदायमें विस्तारका भाव कहांसे आगया? यह बौद्ध प्रचारकोंका प्रभाव था, जो यूरोसिलमके आस पास पहिलेही पहुंच चुके थे। बौद्धोंने यह भाव कहांसे लिया? ऐतिहासिकोंने यह प्रश्न उठाया, परन्तु कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दिया गया। जैसे भगवान् बुद्धके शेष सब भाव आचार-विचार विषयमें प्रायः शास्त्र-मूलक हैं, ऐसेही यह धर्म विस्तारका विचार भी, पुरानी वैदिक शिक्षाका प्रभावही समझना चाहिये। अगस्त्य, कण्व तथा व्यास आदि ऋषियोंके प्रचारके इतिहास उनके सामने थे।

९. यदि धर्म-प्रचारके पुराने और नये प्रकारमें भेद है, तो भी कोई हानि नहीं है। समय और देशके अनुसार विधि और उपाय बदलते हैं। प्राचीन विचार गहराईकी ओर था। वे जिसे अपने धर्ममें स्थान देते थे, उसे असली रूपमें दीक्षित करते थे। आजकी शुद्धिका आकार भिन्न है। एक नामसे दूसरा नाम रखा जाता है, सिर पर शिखा धारण कीजाती है, गलेमें सूत्र लटकने लगता है, दो आहुतियां डालते हैं और घोषणा होजाती है कि शुद्धि हो गई।

शुद्धि सचमुच मानसिक तथा आत्मिकही होनी चाहिये, परन्तु कौन देखे और कैसे देखे? पहिले उसमें कौनसी

अशुद्धि थी और अब नहीं रही। जहां तक अन्तःकरणका सम्बन्ध है, हम अन्धेरे में रहते हैं, पर बाहिरके रीति रिवाजका पता रहता है। आदर्श रूपमें सब संप्रदाय आत्मिक शुद्धिका ही उपदेश करते हैं, परन्तु व्यवहारमें जिनके हाथमें काम होता है उनके आदर्शके अनुसार ही परिणाम होता है। यदि एक सच्चा भक्त, शुद्ध आचरण वाला पुरुष किसीको धर्म दान करता है और दीक्षित होने वालेको कुछ कालतक उसका सत्संग भी प्राप्त होता है, तो उसकी काया अवश्य पलटा खाती है।

११. आदर्श रूपमें यह बात ऐसे ही होनी चाहिए, परन्तु नित्यके साधारण संसारमें ऐसे अवसर कहां, जहां संख्याका द्वन्द्व युद्ध रात दिन हथियार खटखटाता रहे, वहां केवल मौखिक विश्वास ही हिन्दु, मुसलमान वा ईसाई होनेकी कसौटी बन जाता है। इसपर भी जब इस संख्यापर राजनैतिक जुएमें बाज़ीकी हार जीत निर्भर हो, तो सारे पुरुषार्थका अन्त इस संख्याकी बढ़ती तक ही रह जाता है।

१२. मानव-विकास और धार्मिक उन्नतिकी दृष्टिके अनुसार यह शुद्धि घटिया ही समझनी चाहिए, परन्तु सांसारिक कल्याणका सहारा होनेसे घृणित या पापयुक्त नहीं है। हां, पाप तब है जब धोखा किया जावे, झूठ बोला जावे, विषय वासनाको भड़काया जावे, लोभ तथा अन्य विकारोंको उत्तेजित किया जावे। यह उन्नतिका एक चिह्न होगा, जब लोग धड़ा बन्दीको छोड़कर, सच्चाईकी चट्टानपर खड़े होनेका प्रयत्न करते हुए, परस्पर मत-भेदोंको सहन करेंगे और शान्तिसे विचार परिवर्त्तन किया करेंगे। आदर्श दशाकी प्राप्तिसे पहिले भी, यदि कोई प्रचारक

बुद्धिद्वारा दूसरोंको अपने मतकी श्रेष्ठता स्वीकार कराता है और अपना अनुयायी बनाता है, तो यह कोई अन्याय नहीं है। हमारा प्रयत्न यही होना चाहिए कि शुद्धिका असली आदर्श हमारी आंखोंके सामने बना रहे ।

१३. जहां तक देखा गया है कभी किसी आर्यने अपने विचारोंको क्षुद्रभावसे दूसरों तक नहीं पहुंचाया । दूसरे लोग तो कई वार ऐसे हथकण्डोंपर उतर आते हैं, कि सन्देह सा पैदा हो जाता है कि यह धर्मका प्रचार है या शैतानकी वकालत है । परन्तु इसपर आर्यसमाजकी शुद्धि न केवल विधर्मियोंकी, वरन् बहुतसे हिन्दुनेताओंकी आंखमें भी चुभती है । सौ बहाने करके इसे दवाने और कुचलनेका यत्न किया जाता है । कभी इसे शास्त्रके विरुद्ध बताते हैं । कभी अपने पूर्वजोंके स्वभावके प्रतिकूल सिद्ध करते हैं, परन्तु क्या कभी किसीने दूसरोंको भी समझाया है ? जो पीर फकीर उठता है, हिन्दु भेड़ोंको ही हांकने लग जाता है ।

१४. जब हम गाढ़ निद्रामें सो रहे थे, अपना और पराया न समझते थे, तब विधर्मी प्रचारकोंने हमारे अंगोंको काट २ कर और कई वार हमारे अपने हाथोंसे कटवा २ कर हमसे अलग किया । अब जब हम जगनेको तय्यार होते हैं, तो कोलाहल मच जाता है । पराये तो थे ही, अपने भी कोसनेमें उनसे बाज़ी ले जाते हैं । जातीय-जागृति और जातीय-संगठन परस्पर जुड़े हुए हैं । संगठनका स्वाभाविक फल पिछले हिसाबका साफ करना है । देने लेनेका लेखा चुकाना अर्थात् बिछड़ोंको मिलाना, नये अनुयाइयोंको

जोड़ना, और दबे हुओंको उठाना ही संगठनका सार है। इसलिये, अपने आपको मुर्दोंसे अलग करनेके लिए, जीवितोंमें प्रवेश करनेके लिये, शुद्धि और धर्म प्रचारके अधिकारको छोड़देना हमारे लिये असम्भव है। सच तो यह है कि यही हमारे नासिका-छिद्रोंका प्राणरूप आधार है।

१५. यह जीवित जातियों और वृद्धिशाली धर्मोंकी स्वाभाविक सम्पत्ति है। हमने इसे अपनी दुर्भाग्यताके कारण खो दिया था। भला हो ऋषि दयानन्दजी महाराजका, जिन्होंने हमारी इस जीवन-हानिके कारणकी पूर्ण जांच की और फिर सच्ची चिकित्साकी रीति सिखाई हमारी। जातीय नौकाको उन्होंने ही संकटसे बचाया है और इसके लिये सारे हिन्दु हृदयसे उनके आभारी हैं। अब इन बातोंमें सारा हिन्दूसमाज एक मत होचुका है। भारतके चारों कोनों से अब एक ही ध्वनि सुनाई देती है। अब केवल उन लोगोंकी प्रतीक्षा हो रही है, जो इसे सुनकर अपने जीवनका लक्ष्य यही बनावें।

——:o:——

४—आर्य्यसमाजका उद्देश।

१. संसारमें मतोंकी कमी नहीं, वरन् आवश्यकतासे अधिक हैं। इस अवस्थामें क्यों व्यर्थ एक और नये संप्रदायका प्रचार किया जावे? जिस दिनसे आर्यसमाजने जन्म लिया है, शास्त्रार्थोंकी झड़ी लगी रहती है। मानवस्वभाव आगेही मज़हबसे तंग था, अब तो रही सही रुचि भी दूर हो चुकी है।

मज़हब और विज्ञानमें सदासे विरोध चला आया है। हज़ारों निरपराध लोग इसलिये जेलमें सड़े, सूली पर लटके या चितापर जले कि वे अपने हां के पुजारियों और पुरोहितोंके सिद्धान्तोंको अन्धाधुन्ध माननेके लिये तय्यार न थे। पुराने जेलखानोंकी काल, कराल कोठरियां खूब जानती हैं कि किस तरह बड़े २ विद्वानोंने वर्षों उनकी काली दीवारोंके साथ अपना माथा रगड़ २ कर और एक कोनेमें बैठ दुःख और शोकके आंसू बहा २ कर अपने मौतके दिन पूरे किये हैं। क्या आर्य-समाज इस स्मृतिको पुनः जीवित करना चाहता है? अब विज्ञानकी ज्योतिने पन्थोंके अन्धकारको उड़ा दिया है। स्वतन्त्र विचारका युग है। विद्याके अमृतसे नित्य नया जीवन तरंग मार रहा है। हज़ारों वर्षोंकी दबी हुई पुस्तकोंको फिरसे हवा लगा कर क्या करोगे? भला कौन बुद्धिमान् उच्च विचारको कपोल-कल्पित विश्वासोंके बदले, पूर्णविज्ञानको पुराने, अधूरे विचारोंके बदले, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नतिको अन्धेर और एक राज्यकताके बदले त्याग करके प्रसन्न होगा? इसलिये आर्य्यसमाजके कार्य्य-क्रमको आगे न बढ़ाकर आर्य्य-समाजियोंके लिये यही अच्छा है कि आजकी विश्व-व्यापिनी उन्नतिके राजपथपर दूसरे समझदार मनुष्योंके साथ वे भी इकट्ठे चलें।

२. इस प्रकारसे लोगोंके आर्यधर्मके प्रचारमें चार मोटे२ आक्षेप हैं—प्रथम, संसारके वर्तमान पन्थोंकी भारी संख्या नये पन्थके चलानेमें रुकावट है। दूसरे, पन्थ लड़ाईका मूल होता है और आर्यसमाज विशेष रूपसे इस अंशमें हानिकारक होगा। तीसरे, पन्थका विद्याके साथ नित्य युद्ध रहा है। चौथे, विज्ञानके

बढ़ते हुए प्रकाशमें पुराने मिथ्या विश्वासोंका प्रचार समयको व्यर्थ खोना है। अब देखना चाहिये कि इन आक्षेपोंमें कितना बल है।

३. नये पदार्थके लेनेकेलिये उसकी आवश्यकता ही देखी जाती है, न कि किसी मनुष्यके पास और पदार्थोंका बहुत संख्यामें होना। उनसे यदि उसकी आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं, तो उसे अवश्यही जीवनकी स्थिरताके लिये ठीक साधनका आश्रय लेना होगा। संसारमें हज़ारों पन्थ भले मौजूद हों, आर्यसमाज कोई नया पन्थ नहीं और न यह किसी पन्थको चलाना चाहता है। पन्थ और धर्मका भिन्न २ मार्ग है। पन्थ संकोच और धर्म विशालताके साथ जुड़ा हुआ है। मज़हब, पन्थ, संप्रदाय और मत आदि शब्दोंका एकही आशय है।

४. इस लोक और परलोककी अर्थात् सांसारिक, तथा आत्मिक सफलताके रहस्यका नाम धर्म है। श्रेष्ठ लोगोंको आर्य कहते हैं। वे सदासे इसका आदर करते आये हैं। इसलिये इसे आर्यधर्म कहा जाता है। यह सब देशों और सब कालोंमें एक-रूप रहता है। जहां संप्रदाय एक २ मार्गको बतलाते हुए दूसरोंके विरुद्ध युद्धका झण्डा ऊंचा करते हैं, वहां आर्यधर्म सब श्रेष्ठ मार्गोंको मिलाकर एक विशाल और रमणीय उद्यान तय्यार करता है, जो इस उद्यानके स्वास्थ्यप्रद वायुका सेवन करता है, वह मनुष्य जन्मके परम लक्ष्यको पा सकता है। शारीरिक विद्या और ज्ञान, अर्थविज्ञान, योगविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्म-चिन्तन, परोपकार, प्रेम और दूसरे हज़ारों गुण इसके भिन्न २ द्वार हैं। सब सत्य विद्यायें इसकी सुन्दर सड़कें हैं। सामाजिक सुधार और विद्या तथा शीलका प्रचार इसकी आधार शिला

है। आत्मिक,शारीरिक,मानसिक और सामाजिक उन्नति इसकी शोभा है। इस विशाल चित्रमें शेष संप्रदाय छोटी २ रेखाओंके समान रह जाते हैं। आत्मिक विस्तार विस्तृत धर्मके विना सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये सत्य आर्यधर्मका प्रचारंही मनुष्यको असली जीवनके मार्गपर डाल सकता है।

५, संप्रदाय अवश्य लड़ाई और झगड़ा पैदा करते हैं, धर्म कभी नहीं। एकदेशी और सर्वदेशी शिक्षामें यही भेद है। इसलिये पन्थोंने एकदेशी सच्चाईका पक्षपाती होकर जितना अकारण रक्त बहाया है, उतनी शायद किसी शारीरिक वासना या राजनैतिक विचारने भी न बहाया होगा। प्रेमवादी ईसाके चेलोंने आपसमें और दूसरोंके साथ मत भेदको सहन न करके ऐसे २ अत्याचार किये हैं कि वर्णन करते हुए जिह्वा कांपती है और हृदय फटता है। अहिंसा वादी बौद्ध और जैनियोंने एक ईश्वरके विश्वास पर लट्टू और भ्रातृभावपर मस्त मुसलमानोंने निरपराधोंके रुधिर गिरानेमें बढ़ २ कर बाज़ी लगाई है, परन्तु इतिहास उन पृष्ठोंकी तलाशमें है कि जिनपर आर्य्योंके ऐसे ही अत्याचारोंका वर्णन हो, जहां उन्होंने इसलिये तलवारको चलाकर अपने हाथोंको रक्तसे रंगा हो कि दूसरे उनसे भिन्न सम्मति रखनेपर अड़ते थे और यह उन्हें स्वीकृत न था। आर्यधर्मको तो लड़नेसे सम्बन्ध ही नहीं। यह तो दुनियां भरके ग्रहण करनेको सदा तय्यार रहता है। इस जीते जागते चित्रके इर्द गिर्द जितना ईर्ष्या और द्वेषका जाल है, उसे पाप समझकर दूर करदो। एक मन और एक रूप होकर जगत्का हित चिन्तन करो।

लड़ाईका मूल संकोच है, न कि धर्म । आज दूसरे लोग आर्य्य समाजको वे अधिकार दे दें, जो उन्हें सैंकड़ों वर्षसे प्राप्त हैं, सब लड़ाई बन्द होजाती है ।

६. वैज्ञानिक उन्नतिका मार्ग मत-भेदसे होकर जाता है, और इसकी आर्यधर्म खुली आज्ञा देता है । इसके अनुयायी अनादि कालसे विद्यासे भिन्न रहे हैं । जहां दूसरे लोगोंको विद्वानोंको कैद करने, मौतके घाट उतारने और अमूल्य पुस्तकोंको जलानेका भयानक तथा दुःखदायक अभिमान है, वहां आर्यधर्मका शिर सदा इस बातसे ऊँचा है कि इससे कभी भिन्न मतिवाले विद्वानोंपर अत्याचार नहीं किया गया । ऋषि लोग अपने विरोधियोंका नाम सदा आदरसे लेते हैं । जिज्ञासुके सामने प्रत्येक प्रश्नके सब पक्षोंको रखना वे अपना कर्तव्य समझते हैं । इसलिये यह स्वाभाविक था कि जहां प्राचीन आर्यावर्त्त विद्याओं और कलाओंका केन्द्र था, वहां आर्य्यधर्म्मका प्रतापी गढ़ भी था ।

७. विद्याका प्रकाश निर्धनोंके झोपड़ोंतक जाता था । महाराज दशरथ और महाराज अश्वपतिकी राजधानियोंका वर्णन ध्यानसे पढ़ने योग्य है । वह कौनसी विद्या है, जिसे इस मातृभूमिने जगत्‌को न पढ़ाया हो । हरएक विद्याके रहस्यको पहिचानकर उसका प्रचार करने वाले परोपकारीको यहां ऋषिका पद प्रदान किया जाता था । इसके विरुद्ध पश्चिममें यदि विद्याकी उन्नति हुई है, तो वहांके साम्प्रदायिक भवनकी मूलको खोखला करके ही हुई है । इसलिये इसमें क्या आश्चर्य है कि वहांके विद्वान् सम्प्रदायको उन्नतिका शत्रु समझते हैं ।

क्या अच्छा हो कि उनको पता लगे कि आर्यधर्ममें आकर वह और भी अधिक स्वतन्त्रताके साथ विचार कर सकते हैं। यहां तो ज्ञानका इतना मान है कि इसके विना मुक्तिको ही असम्भव माना है। वेदका शब्द ही ज्ञानकी ओर संकेत करता है। विचारकी उदारताका इससे अधिक क्या और उज्ज्वल प्रमाण हो सकता है कि अनेक दार्शनिक सम्प्रदायोंके चलानेवालोंको ऋषि कह कर पुकारा गया है। यहां विद्वानोंको देवता कहते हैं। विद्याके दीपकको उज्ज्वल करनेवालोंको सदा मान और प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखा गया है। वस्तुतः आर्यधर्म इस आक्षेपसे ऊपर उठकर सूरज और चन्द्रमासे बातें करता है।

८. रही यह बात कि आज सर्व प्रकारकी उन्नतिका युग है। यह कोई ऐसी बात नहीं, जिसे सब मानते हों। पूर्व और पश्चिम दोनों स्थानोंपर ऐसे लोग हैं, जिन्हें वर्त्तमान जीवनमें ज्ञान ध्यान, धर्म कर्म, प्रेम प्यार सब अच्छे गुण नष्ट होते हुए दिखाई देते हैं। लोभ, लालच, कपट और धोखेका बाज़ार गर्म है। सबसे बड़ा मनुष्य वह है, जो सबसे अधिक चतुराईसे लोगोंके गले काट सके।

९. इसलिये अन्धाधुन्ध किसी बातपर विश्वास न करना चाहिये। जिन अंशोंमें वर्त्तमान युगमें उन्नति हो रही है, उनको सीखना चाहिये और जो व्यवहार जीवनमें अवनति और दुखको बढ़ानेवाले हैं, उनसे बचकर रहना चाहिये। आज संसारमें अशान्ति है। अशान्ति आनेवाली उन्नतिका पूर्वरूप होती है, परन्तु यह आवश्यक है कि उन साधनोंको वर्ता जावे, जिन्हें ऐतिहासिक अनुभवने सच्चा सिद्ध कर दिया

है। पानीकी प्यास रोटी और रोटीकी भूख पत्थरसे कब दूर होती है। आज उच्चसे उच्च व्यक्तिगत और समष्टिगत लक्ष्य शारीरिक सुख और आनन्दके विना कमसे कम व्यवहारमें और कुछ नहीं। अपने सुखके लिये जातियां केवल स्वार्थको आगे रखती हैं। आत्मिक एकता और हार्दिक उदारता हमारे सर्व कार्य्योंसे दूर रहती है। इनका उपयोग लेख लिखने और पढ़नेके अतिरिक्त कुछ नहीं। यही आये दिनके युद्धोंका मूल-कारण है। इसीलिये अन्तरजातीय सभाएं और समितियां कुछ नहीं बना सकतीं। इनका कार्य बाहिरके लेपतक परिमित होता है। अन्दरसे किसी बातमें परिवर्तन नहीं होता। परस्पर अविश्वासके कारण स्थलचर और सामुद्रिक सेनायें सर्वदा तय्यार रहती हैं। तोपों और बन्दूकोंमें गोली बारूद भरा रहता है। ज्वालामुखीके फटने की सी घोर ध्वनिके साथ संग्रामके सूने गृहका द्वार खुल जाताहै और कोटियों प्रजा मिट्टीमें मिल जाती है। इसके दूरकरनेकासाधन आर्यधर्मके प्रचार द्वारा आत्मिक स्वराज्यका स्थापित करना ही है।

१०. आज धन निर्धनोंको दबानेके लिये, और समुदाय अकेलेको खानेके लिये है। धनाढ्य लोग गर्व और अभिमानसे मस्त होकर अकड़ २ कर चलते हैं। निर्धन श्रमजीवी हड़तालका भयानक शस्त्र उठाने पर उतर आते हैं। बड़े २ राज्याधिकारी मंत्री और प्रधान रिश्वत लेनेमें संकोच नहीं करते। भारतवर्षको तो वृथा ही कोसा जाता है। बड़ों और छोटोंमें, काले और गोरेमें, गोरे और गोरेमें सर्वत्र ऐसा तनाव है कि इसका उपाय सोचते हुए मस्तकमें चक्कर आने आरम्भ होजाते

हैं। साधारण साम्यवाद और रूसी साम्यवाद इसी समस्याकी उपज है।

११. परन्तु इस रोगका सच्चा इलाज गुण, कर्म अर्थात् शील और योग्यताके अनुसार वर्ण-व्यवस्थाकी स्थापनाही है। यह आर्य धर्मका काम है। आर्यधर्मने मनुष्य मनुष्यका परस्पर सम्बन्ध और जाति जातिका परस्पर व्यवहार शुद्ध करना है। आत्माको परमात्माकी ओर झुकाना है। यह माना, कि विज्ञानने आज विद्याको एक चमत्कारसा बना दिया है, पर हमारा मन केवल वैज्ञानिक उन्नतिसे तृप्त नहीं रह सकता, इसलिये प्रत्येक प्रकारकी आत्मिक, सामाजिक और मानसिक शुद्धि करनेका सौभाग्य भी आर्य्यधर्मकोही प्राप्त होगा।

१२. भौतिक सभ्यताके स्थानपर आत्मिक सभ्यताको स्थापित करना साधारण काम नहीं। यदि आर्य्यधर्मका प्रचारक-संघ इसमें कभी कृतार्थ होगया, तो यह सबसे बड़ा चमत्कार होगा। बुद्धिको सब बन्धनोंसे मुक्त करके, सत्यके ग्रहण और असत्यके परित्यागका स्वभाव पैदा करना अभी रहता है। संसारने अभी आर्यधर्मसे यह सीखना है कि एक जर्मन जर्मनीसे प्रेम भी कर सके और फ्रांसके प्रति द्वेषी भी न हो। हरएक जाति दूसरी जातियोंको दबाये विना भी समृद्धिशाली हो सकती है और सांसारिक ऐश्वर्य्यके आनन्दकेलिये भी धर्मसे सम्बन्ध रखना अच्छा होता है। आर्यधर्मने अभी वर्तमान जीवनके बहुरूपियेपनकी जड़को खोखलाकर, टेढ़ी चालोंसे मुक्तकर, सरल जीवन और परोपकारके भावको पैदा करना है। नीरस जीवनको जगदीशके प्रेमसे रस-सागर बनाना है। इसने संसार में ऐसे आत्मिक स्वराज्यको स्थापित करना है, जिसमें

सब मनुष्य अपनी २ योग्यताके अनुसार काम करते हुए समान अधिकारवाले और स्वतंत्र होंगे। उस समय उनको अलग करनेके लिये जाति, देश और सम्प्रदायका भेद कुछ न कर सकेगा। प्रेम, भक्ति और कर्मयोगका पवित्र सूत्र सब जातियोंको एक बड़ी जातिके रूपमें बदल देगा। और अन्तमें विद्या और धर्मके घोड़ोंको जीवनकी गाड़ीके आगे जोड़ कर, जहांसे भी मनुष्योंका जाना होगा, वेदामृतकी मिठास सदा उनके कानोंको मीठा करती रहेगी।

१३. यह बात ठीक नहीं है कि आज कलके मनुष्यके पास इन बातोंपर विचार करनेके लिये समयका अभाव है। असलमें वह मतोंके झगड़ोंसे तंग आचुका है। उसने अभी धर्मके इस विशाल चित्रको दिलमें बिठाना है, नहीं तो ताश और शतरंज, राग और रंग, खेल और तमाशेके लिये जो समय निकाल सकता है, क्या वह सब आनन्दोंसे बड़ा आनन्द देने वाले, सब चिन्ताओंसे मुक्त करने वाले और आत्मिक विश्वासकी अन्तिम अवधि तक पहुंचाने वाले प्यारे धर्मकी मूर्तिको दिलमें स्थान देनेको तय्यार न होगा? होगा और अवश्य होगा। केवल उसको निश्चय कराने वाले धर्ममूर्त्ति, देवतास्वरूप प्रचारकोंकी आवश्यकता है। इस लिये संसारका इसमें क्या अपराध है कि वह अज्ञानके कारण आर्यधर्म और ऋषि दयानन्दके उद्देश्यको ठीक नहीं समझ सका। अपराध उनका है, जिनके कन्धोंपर ऋषि लोग यह भार रख गये हैं, पर जो पूर्णरूपमें इन तत्त्वोंका जगत्‌में विस्तार नहीं कर सके।

५—आर्य्य-जीवन ।

१. आर्यजीवनका शब्द कितना मधुर, कितना श्रेष्ठ तथा कितना गौरवयुक्त है । आर्य्य नाम स्वामीका है, अतः परम स्वामी, जगदीशको भी मनीषी, विद्वान्, सज्जन इसी द्व्यक्षर नामसे स्मरण करते हैं। उस विभु, सर्वशक्तिमान् प्रभुके पुत्रोंका सर्वप्रिय तथा अनादि कालसे चला आने वाला नाम "आर्य्य" है। भगवती वेदमाता, इसी शब्दसे अपनी सत्कर्ममें लगी हुई प्रजाको अन्य म्लेच्छ, दस्यु अर्थात् अनार्य्य वर्णसे अलग करती है।

२. आर्य शब्दका दूसरा अर्थ संगति करने योग्य, साधू-स्वभाव, सज्जन होता है। जो इसके विपरीत, लोकद्वेषी, अत्याचारी कूट, छल तथा दम्भसे युक्त और अन्यायसे दूषित होता है, सब प्रजायें उससे दुःखी होकर घृणा करती हैं। वह न ईश्वर-भक्त है और न लोक-भक्त। वह नास्तिक, अनार्य्य है। उसका जीवन धारण करना पृथिवी माताके ऊपर दुस्सहभार है। न वह अपना सुधार करता है और न उस मन्दमति, हतभाग्यसे किसी औरको लाभ होता है। जब वह लोक, परलोक घातक शरीर छोड़ता है, तो न कोई रोता है, न ही उसके प्रति तनिक आदरका प्रकाश करता है। उसके मुर्देपर कोई मित्र फूल नहीं चढ़ाता और न दो आँसू बहाता है। पृथिवी अपने आपको हलका अनुभव करती है। सच्चा आर्य इस विपरीत स्वरूपसे ठीक समझमें आ सकता है। वह रोता हुआ संसारमें प्रवेश करता है। उसे चारों ओर बैठे हुए, हंसते हुए, सम्बन्धियोंकी हंसी भी

हंसानेमें असमर्थ है । परन्तु जब वह कर्मवीर शनैः २ अपनी जीवन नौकाको भवसागरसे पार करता हुआ, अपने जनोंपर अन्तिम दृष्टि फेरता है, तो उन्हें रोता हुआ पाता है, परन्तु उसके होठोंसे मुस्क्यानकी मधुरता और नेत्रोंसे संतोष और प्रभु-विश्वासकी शान्ति बरसती है । यह है, आर्य जीवनका संक्षेपसे शाब्दिक तात्पर्य्य ।

३. प्रत्येक व्यक्तिको परमात्मा ऐसा शुद्ध, पवित्र तथा बलिष्ठ जीवन करनेका सामर्थ्य दे रहे हैं, परन्तु इस शक्तिका विकास सबमें एक समान नहीं पाया जाता । हमारे पूर्वज आत्मिक बलके धनी होते थे । इसका प्रभाव उनकी समग्र रीति नीतिपर दिखाई देता था, जहां व्यक्ति समर्थ होता है, वहां जातीय जीवन भी सुगठित और दृढ़ होजाता है । इस कारणसे उस समय भारतीय जनताके नेताओंमें विचित्र चुम्बक शक्तिका विकास होरहा था । सारी जाति सम्पर्कमात्रसे दूसरोंको अपने रंगमें रंग लेती थी । सहस्रों लोग विदेशसे आ आकर हममें क्षीरनीरन्यायसे एक रूप होगये । उस समय आर्य्य प्रत्येक अनार्य्यको ऊपर उठानेको तय्यार होता था । काल-क्रमसे विचारोंमें भेद पैदा हुआ । जातीय अभिमान तथा कुलाभिमान बढ़ता २ ऊंच और नीचका मूल कारण बना । अपने आपको अब हम सर्वश्रेष्ठ समझकर दूसरोंसे परे रहने लगे । शनैः २ हमने अपने विस्तार चक्रको इतना अन्दर खींच लिया, कि कोई विजातीय अंश अब हमारा अङ्ग नहीं बन सकता था । सार्वभौम भाव इतना जड़से उखड़ा कि अब हम तनिक अपराधको भी सहन करनेमें असमर्थ होगये । अपने अंगोंको भी अस्पृश्य कहकर अपनेसे परे हटाने लगे । अपने देश, नहीं नहीं समय आया,

जब हमने ग्रामसे और घरसे बाहिर पग धरने मात्रसे अशुद्ध होजानेका भ्रम पैदा किया। प्रभुकी लीला विचित्र है। जहां आत्मिक विस्तारकी कोई सीमा नहीं, वहां संकोचकी भी कोई अवधि नहीं।

५. संसारमें जितने मत हैं, उनको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, प्रथम—जो कपड़े फाड़ २ कर फैलना चाहते हैं। जैसे बौद्ध, ईसाई तथा इसलामी मत। दूसरे वे, जो अपनी काल्पनिक पवित्रताके नाश होजानेके भयसे दूसरोंसे बच बच कर ही रहनेमें भलाई समझते हैं, जैसे यहूदी, फारसी तथा हिन्दू लोग। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जावे, तो पता चलता है कि इन दूसरे प्रकारके लोगोंके संकोचात्मक स्वभावसे ही प्रथम प्रकारके मतोंकी उत्पत्ति हुई है। सामयिक हिन्दूमतके अन्दर, सामाजिक विषमतासे उपजे हुए अन्याय तथा अत्याचारके भावने ही राजकुमार गौतमबुद्धके हृदयको ठेस पहुंचाई। वह दबे हुए शूद्रोंकी ओर दया दृष्टिसे युक्त होगये और बौद्धधर्मको सर्वजनीन बनाकर, समस्त भूमण्डलमें प्रचार पाने योग्य कर दिया। कुछ बौद्ध प्रभावसे प्रभावित होकर और कुछ अपने यहूदी भाइयोंके संकोचसे उत्तेजित होकर सैण्टपालने ईसाके उपदेशको सब मनुष्यमात्रके लिये निश्चित किया।

६. यही नियम आज भी कार्य्य करता हुआ दिखाई देता है। गुरुनानकदेवका सिक्ख संप्रदाय, यद्यपि विशेष रीतिसे दूसरे लोगोंमें नहीं फैला, तो भी मौलिक रूपसे सब मनुष्योंको भक्तिका समान अधिकार देता है। उन्नीसवीं शताब्दीमें हिन्दुओंके अन्दर इस संकोचको दूर करनेके लिये

कई साधन प्रकट हुए । पश्चिमी साम्राज्यके साथ ही साथ पाश्चात्य सभ्यताका भारतमें प्रवेश हुआ । परमात्माने पाश्चात्य लोगोंको ऐश्वर्य्य और प्रकाश दोनों दिये थे । भारतीय दीन, हीन प्रजा चकाचौंध होकर, अन्धाधुन्ध अनुकरण करने लगी । बड़े तीव्र वेगसे लोग साहिब लोगोंसे भेएट करते, जातिसे बहिष्कृत होते और अपने प्राचीन धर्मसे पतित होजाते थे । इस बाढ़को रोकनेके लिये, और परस्पर मेल मिलापको धार्मिक रूप देकर व्यवस्थित करनेके लिये, बंगालमें ब्रह्मसमाजकी स्थापना हुई । इसी प्रकार पीछे प्रार्थनासमाज और थियासोफिकल सुसायटीकी रचना हुई तथा औरभी छोटे मोटे कई दल पैदा हुए ।

७. परन्तु सबसे प्रबल और सबसे भिन्न प्रकारका कार्य्य महर्षि स्वामी दयानन्दजीने किया । उन्होंने तीव्र यांग-चक्षुसे इस जातिके रोगकी परीक्षा की । उन्होंने देखा और अनुभव किया कि रोगी चिरकाल तक शय्या पर लेटे रहनेके कारण, निरुत्साह और निश्चेतन सा होगया है । पाचन-शक्तिके दुर्बल होजानेसे इसकी नस नाड़ियोंमें विजातीय द्रव्यका दबाव पड़ रहा है । इसके मन्दगति रुधिर प्रवाहमें, उसे बाहिर फैंकनेका सामर्थ्य दिखाई नहीं देता । प्रथम तो नया द्रव्य इसके भीतर घुस नहीं सकता, और यदि दैववशात् कभी चला भी जाता है, तो मन्दाग्निके कारण ठीक न पचकर विष रूप होजाता है । इसलिये अन्दर सड़ांद पैदा हो रही है और अब यह अपने आपको ही खाये जारहा है । अंग प्रत्यंग सभी दुःख रहे हैं । बस, हैरानी है तो यह कि अब तक मरा क्यों नहीं ?

८. वैद्यराजने एक २ अंगका ठीक प्रकारसे निरीक्षण करके केन्द्र स्थानको दृढ़ करनेका निश्चय किया। सब धातुओंके विषम पाकके कारण जो वात और कफके प्रकोपसे भोजन नालिका रुकी हुई थी, ऋषिने उसको ठीक किया। पथ्य-भोजनका अन्दर जाना और पाचनका नियमित होना ही था कि रोगीके कपोल तल पर गुलाब खिलने लगा। उसने दीर्घकालके उपरान्त जम्भाई लेकर, निरन्तर रुकी हुई नाड़ियोंमें नूतन रक्तको संचारित किया। विषैले द्रव्य उबल २ कर फोड़े और फुन्सियोंके रूपमें उभरने लगे। एक वार फिर रोगी निराश सा प्रतीत हुआ, परन्तु योग्य शल्य-शास्त्रीने चीरफाड़से बहुतसी शुद्धि करदी। अभी सड़े हुए रक्तके उभार बन्द न हुए थे। हां, रोगी अब सहन करके अपनी प्राकृतिक शक्तिसे स्वस्थ होनेके योग्य होरहा था। मस्तिष्कमें विकास तथा अंगोंमें स्फूर्तिकी जागृति हो रही थी, इस अवस्थामें उस पूर्ण योगीराजने इसे अब अपने आप ठीक होनेके लिये छोड़कर अपनी दृष्टि स्वर् लोककी ओर फेरदी। रोगी बुलाता २ रह गया। बहुतेरा रोया और उदास भी हुआ, पर ऐसे सिद्ध महात्मा विद्युत्के समान ही आते और वैसे ही चले जाते हैं।

९. यह रोगी यही आर्यजाति थी। स्वामीजी महाराजने अनुभव किया कि हम निस्तेज और निःसत्व होरहे हैं। नित्य संकुचित होते २ हमें अब बाह्य विस्तार सर्वथा अपने स्वभावके विरुद्ध प्रतीत होता है। छूआछूत और ऊंच नीचके प्रचारके कारण,हमारे जोड़ ढीले पड़ चुके हैं। इस दुर्बलताको दूर करनेके लिए, स्वामीजीने वेदमाताका दूध

हमको पिलाया । हमारे पूर्वजोंका भानुके समान उज्ज्वल इतिहास हमारे सम्मुख रखा ।

१०. कितना ही कोई हीनसत्व क्यों न हो, उसे यह विश्वास करादो कि तुम बड़े शूर हो, बस वह उठ पड़ता है । आर्य जाति तो वस्तुतः सिंह समान पराक्रमी थी। इसकी कुम्भकर्णी निद्राके खुर्राटोंकोही तोड़ना था । किसी भी जातिके पुनरुत्थानका सर्वोत्कृष्ट उपाय उसे अपना पूर्व उज्ज्वलमुख इतिहासदर्पणमें दिखाना ही है। ऋषिने इस रहस्यका खूब मनन किया और बड़ा सुन्दर प्रयोग किया ।

११. उन्नीसवीं शताब्दीकी दूसरी संस्थाओंका प्रभाव हिन्दूसमाजकेलिए विशेष जागृतिकारक न था । केवल कुछ पढ़े लिखे लोग उनकेद्वारा अपने विचारोंके अनुसार स्वतन्त्र होने लगे थे, परन्तु आर्यसमाजके प्रचारके कारण, समस्त जातिके विचार तथा व्यवहारमें अन्तर पडा । एक वार तो ऋषिके जीवनमें ही यूं प्रतीत होता था कि वह बड़े विशाल, जगत्व्यापी भूकम्पके केन्द्र बन रहे हैं। कोई होगा, जो उस समय न हिल गया हो । सहस्रों नरनारी ऋषिके अमृत-प्रवाहमें स्नान करके शुद्ध हो रहे थे । आर्यसमाज स्थापित हुआ । ऐसा प्रतीत होता था कि सहस्रों वर्षोंका उलटा परिणाम ठीक कर दिया जावेगा।

१२. अभी दूसरी प्रकारकी आपत्ति उपस्थित होनी थी। स्वयं अपने अंदरसे विरोध पैदा हुआ। यह स्वाभाविक था। इसकेलिये दोषारोपण व्यर्थ और अयुक्त है । ऋषिका विष पीना भी हमारे भावी जीवनके लिये अमृतका सा प्रवाह

रखता है। यद्यपि सारा देश आर्यसमाजी नहीं बना, तथापि जातीय मस्तक खुले विचारोंको ग्रहण कर चुका है। दक्षिण, महाराष्ट्र तथा बंगालके विद्वानोंकी लेखनी, यदि उनके आर्यसमाजी न होते हुए भी, प्राचीन भारतके गीत गाती और ऋषि मुनियोंके गीतका बखान करती है, तो वह ऋषिका ही छिपा हुआ आन्तरिक प्रभाव प्रकट होता हुआ समझिये। दूसरे शब्दोंमें जातिका अन्तरात्मा ऋषिके चरणोंमें झुक चुका है। आर्यसमाज भी समष्टि रूपसे ऋषिकी बताई हुई पद्धतिका ही अनुसरण कर रहा है, पर व्यक्तिगत इतिहास कुछ भिन्न है।

१३. आर्योंकेलिए हिन्दुजाति एक विशेष रूपमें प्रभाव पैदा करती रही है। जैसा कोई गाढ़ निद्रामें पड़ा २ करवट लेता है और कहींसे वस्त्र हिल जाता है, उस छिद्रमेंसे शीतल पवनका सम्पर्क उस सोने वालेको तनिक हिलाता है। पर चूँकि वह अभी पूर्णतया जगा नहीं होता और नींद लेना चाहता है, वह क्या करता है? उस वायुके प्रवेशद्वारको बन्द करके, अर्थात् सारे वस्त्रोंको दांए बांए ठीक दबाकर फिरसे सो जाता है। ठीक इसी प्रकार हिन्दूजाति सैंकड़ों शताब्दियोंसे सो रही थी। एकाएक इतना कोलाहल हुआ कि इसकी आँख खुल सी गई। इसके किसी २ अवयवको वाह्य जागृतिने प्रभावित भी किया, पर यह कब इसे सहन कर सकती थी? एक अंगड़ाई लेती हुई फिर सब अवयवोंको अन्धेरी निद्राकी चद्दर ओढ़ाकर लपेट लपाट कर सो जाना चाहती है। आर्योंने महर्षिके पीछे जगे रह कर शेष जातीय धड़को जगानेका

बड़ा सराहनीय कार्य तथा परिश्रम किया है, पर अभी नींदका पलड़ा भारी दिखाई देता है और भय है कि स्वयं आर्य भी सो न जावें। अब तक जिन लोगोंने आर्यसमाजका काम चलाया है, उनके जीवनमें प्रथम कोटिकी घटनाएं घटी हैं। समस्त विरोधोंका सामना करते हुए उन्होंने अपनी धार्मिक भावनाओंको पूरा करनेकी चेष्टाकी है। अड़कर खड़ा होनेका उनमें बल था। परस्पर मेल मिलाप तथा सामाजिक सहानुभूति उनमें अधिक थी। उनके दो कारण हो सकते हैं। उनमेंसे बहुतेरोंने साक्षात् ऋषिके मुखारविन्दसे उपदेशामृतका पान किया था। इसलिये उनमें उत्साह तथा चमत्कार अधिक था। दूसरे उनकी संख्या कम थी और यह भी इस प्रकारके स्वभावमें एक आवश्यक निमित्त हो सकता है। कुछ ही कारण क्यों न हो? यह दृश्य अब लोप सा होता चला जारहा है। दूर २ से उत्सवोंमें सम्मिलित होना, 'नमस्ते' कह कर एकका हृदय दूसरेके लिए खुल जाना, बीमारीमें सबका सेवाके लिये उपस्थित होना ये हमारे नये जीवनके सुन्दर लक्षण थे। उन दिनोंकी यह बात है कि आर्य पुरुष जहां भी होता था अपनी दयानतदारी, परिश्रम-प्रियता, न्यायानुरोधिता, सार्वजनिकता आदि सद्गुणोंसे झट पहिचाना जाता था। दूसरे शब्दोंमें हमारे अन्दर जीवनके समस्त चिह्न विद्यमान थे।

——:o:——

६—आर्य्य-जीवनका बल ।

१. आर्य धर्मका उद्देश संसारमें उत्कृष्टतम चरित्रका विकास करना है। इसका सबसे प्रधान अंग सत्यारूढ़ता है। साधारण मनुष्योंके जीवनमें सत्य और असत्य मिश्रित रहते हैं। जब सत्य असत्यसे पृथक् होकर मनुष्यके जीवनका आधार बन जाता है, तो वह देवकोटिमें प्रवेश करता है। बलवान्को देखकर निर्बलकी ढांडस बंध जाती है। ख़रबूज़ेको देखकर ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है । इसी प्रकार यदि हम भी यत्न करें, तो परस्पर सहायता करते कराते हुए इस दिव्य जीवनके अधिकारी बन सकते हैं।

२. आर्य मात्रको निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिये, कि जब तक हम कुछ विशेषताओंको धारण न करेंगे, हमारी बात सुननेको कोई तय्यार न होगा। लोगोंके साथ हमारा सामाजिक और व्यावहारिक सम्बन्ध तो अवश्य होगा, परन्तु हमारे भावों और कार्य्योंसे प्रभावित होकर बहुत कम लोग आर्य धर्मको स्वीकार करेंगे । यदि आर्यसमाज केवल एक संकुचित संप्रदाय और धड़े बन्दियोंका केन्द्र ही बनकर रहना चाहता है, तो फिर इसके विश्व-व्यापी प्रचारकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। स्वार्थी स्वार्थपरायण हुए २ स्वयं अपना २ प्रचार करेंगे ही, पर यह निश्चित बात है कि इससे ऋषि दयानन्दका मन्तव्य पूरा नहीं हो सकता । उन्होंने सब पन्थों और मतोंसे ऊपर उठाकर, इस धर्मकी वेदीको स्थापित करना

चाहा था । हमें चाहिए कि हम भी अपने अन्दर दृढ़ आर्य-जीवनको धारण करके इस लक्ष्यकी पूर्त्तिमें सहायक बनें ।

३. इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक आर्यसमाजी चाहता है कि आर्यधर्म संसारमें फैले । ईसाई और मुसलमान भी चाहते हैं कि उनके मतोंका प्रचार हो । हम केवल चाहते हैं और यह निश्चय करके कि हमारा धर्म मनुष्य-मात्रका स्वाभाविक धर्म है, मौन साध लेते हैं, पर दूसरे साथ कार्य भी करते हैं । हमें प्रभुने हाथ पाँव दिये हैं और उन्हें भी । परन्तु हमारा मन इतना आगे नहीं बढ़ता, जितना उनका बढ़ता ही क्या, छलांगे लगाता है । यही अन्तर है ।

४. कितने आर्यपुरुष वस्तुतः सच्चे प्रचारकोंकी कमीको हृदयसे अनुभव करते हैं ? कितने ऐसे धुनके धनी होंगे, जो वस्तुतः दिव्य-जीवनका पालन करते हुए, जो मानते तथा अनुभव करते हैं, उसे करनेको भी तय्यार होंगे ? कितने दिलसे यह इच्छा करेंगे और आचरणसे कर दिखायेंगे कि वे स्वयं और उनकी सन्तान सच्चे आर्य बनकर अपने धर्मकी सेवाके लिये तय्यार होंगे ? कितने ऐसे होंगे, जो अपना सर्वस्व इस कार्य्यके लिये लगाकर अपने जीवनसे सर्ववेदस्यज्ञकी पूर्णाहुति डालेंगे ? जिनके चित्तमें परमात्माकी कृपासे सत्यका सिंहासन स्थापित होजाता है, उनके सामने कड़ीसे कड़ी परीक्षायें आती हैं और वे उन्हें अपनी सफलताकेलिये सुनहरी अवसर समझते हैं ।

५. उत्साहमयी सत्यपरायणताके भरोसे ही प्रत्येक मनुष्य सच्चा आर्य्यवीर बन सकता है । हमें निद्राकी लपेटसे

बाहिर निकलकर, आंखें खोलकर निहारना होगा। संसार बड़े प्रचण्ड वेगसे आगे निकल गया है। आरम्भमें हमारे जीवनमें जो विशेष बातें थीं, उन्हें अभी दूसरोंने सीखना था, अब काया पलट चुकी है। आर्यवीर दूसरोंको जगाकर, स्वयं खुर्राटे लेना चाहते हैं, पर यह कैसे हो सकता है? अब तो अपनी स्थितिके सुधारकेलिये प्रत्येक आर्यको आर्य-जीवनकी विशेष बातोंको स्थूल अक्षरोंमें हृदयपर अंकित कर देना चाहिये।

६. हम चाहते क्या हैं यही, कि हम भी आर्य बनें और सारा संसार भी आर्य बने। बहुत अच्छा, इसके लिये हमें सच्चा आर्यभक्त बनना पड़ेगा। भक्ति हमारी संजीवनी बूटी है। समस्त ऋषियों और मुनियोंने इससे अपने बलको बढ़ाया है। भक्तिका भाव अपने लक्ष्यके प्रति सच्ची लगनका प्रकाश करना है। भक्ति शुष्कतासे दूर भागती है। इसके लिये श्रद्धा और प्रेमसे आर्द्र हुए २ हृदय मन्दिरकी आवश्यकता है। दम्भ और दिखावेकेलिये भी लोग भक्तका रूप धारण करलेते हैं। यह अनुभवकी बात है कि जितना वे इस पाखण्डके द्वारा दूसरोंको ठगते हैं, उससे कहीं बढ़कर अपना सर्वस्व नाश करलेते हैं। इसलिये जहां सच्ची भक्तिका भाव आर्य-जीवनको बलवान् बनाता है, वहां यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल दिखावा इसकी जड़को खोखला करदेता है। सच्ची भक्ति वस्तुतः पतितपावनी, भवतारणी, दुःखनिवारणी है।

——:०:——

७—आर्य भक्ति-पंचक ।

१. भक्ति जीवनका रस है। यह हृदयकी तरंगोंकी एकतानता है। यह मनकी दौड़ धूपका एक लक्ष्यपर केन्द्रित होना है। यह सब संशयों और संदेहोंके घटाटोप बादलोंके छिन्न भिन्न करनेवाला मध्याह्नका प्रचण्ड सूर्य्य है। निराशा और कायरताकी अमावस्याकी रात्रिमें पूर्ण चन्द्रका प्रकाश है। वास्तवमें वह मनुष्य मनुष्य नहीं हो सकता, जिसके जीवनमें इस दिव्य-शक्तिका अद्भुत बल न हो। यह वह सदा सुगन्धित पुष्प है, जो नीरस हृदयको रसयुक्त और आवासित करदेता है। यह वह जीवनलता है, जिसकी महकसे सूखी हुई अन्तःकरणकी कोंपलें हरी भरी होजाती हैं। प्रत्येक आर्यके जीवनमें भक्ति विशेष रूपसे प्रकट होती रहनी चाहिये। वेदके उच्च अदर्शोंका सामने रखते हुए, इसभक्तिके पांच अंग स्पष्ट दिखाई देते हैं। प्रत्येक आर्यको चाहिये कि इस पंचांग-भक्तिको समझकर अपने हृदयमें प्रतिष्ठित करे।

२. भगवद्भक्ति—ऋषियोंके बताये हुए मार्गके अनुसार, हमें सच्ची आस्थासे युक्त होकर, प्रभु चरणोंमें सदा झुकना चाहिये। कमसे कम सायं, प्रातः अपनी विनतीका प्रकाश करना आवश्यक है। पांच मिनिटी सन्ध्याको पर्य्याप्त न समझकर, प्रत्येक आर्यको यम, नियम आदिका पालन करते हुए, आसन, प्राणायामका अभ्यास करते हुए, ध्यान तथा समाधिका प्रयत्न करना चाहिये।

३. कई लोगोंका यह कहना है कि अब इतना समय

नहीं मिल सकता कि आसन लगाकर देर तक सन्ध्या की जावे, इस कथनमें कोई सार प्रतीत नहीं होता। साधारणतया लोगोंके जीवनमें समयका नाश अब भी वैसा ही होता है, जैसा कि शायद पहिले होता होगा। खेल और तमाशोंमें, हँसी और ठट्ठेमें, जूए और शतरंजमें आज भी मनुष्य पर्य्याप्त समय खोता है। यदि यह उसे विश्वास हो जावे कि प्रभुकी भक्ति सब थकावटको दूर करनेकेलिये और कार्य करनेकी शक्तिको बढ़ानेकेलिये अनुपम औषध है, तो अवश्यमेव वह व्यर्थके कई और व्यसनोंको छोड़कर, इस पवित्र व्यसनको धारण करेगा।

४. ध्यान और समाधिका भाव सुनकर डरना नहीं चाहिये। योगके अंगोंका धारण करना जीवनकी सफलताकी कुंजी है। जो लोग जीवनकी दौड़धूपसे विरक्त होकर, मोह मायासे ऊपर उठ जाते हैं और आत्म-साधना द्वारा प्रभुके समीप होते जाते हैं, वे धन्य हैं, परन्तु जो व्यवहारमें, दिन रातकी रगड़ झगड़में, नाना प्रकारके प्रलोभनोंके सामने, भयंकर संकटों और आपत्तियोंके दाढ़ोंके नीचे, अपनी सत्यता, निरभिमानता, प्रभु-भक्ति और सज्जनताके आधारपर खड़ा हो सकता है, वह कर्मवीर, धीर, मनस्वी, योद्धा, यमी और योगी से कम नहीं है। प्रभुकी वास्तविक भक्ति सचमुच नित्यके जीवन प्रवाहमें ही प्रकट होती है।

५. सच्चे भक्तके माथेपर कान्ति तथा तेजका प्रकाश होता है। उसके भाषणमें गौरव, गम्भीरता और मधुरता आ जाती है। उसका व्यवहार शान्ति और शुद्धिसे भर जाता है। चिड़चिड़ापन, धड़ाबन्दी, गालीगिलोच तथा हठधर्मीके कुल-

क्षण दूर भागते हैं । सच्चा भक्त थोड़ा बोलता है, परन्तु उसका एक २ शब्द सारगर्भित तथा आकर्षक होता है ।

६. वेद-भक्ति—प्रभुकी यह अपार दया है कि वह हम निस्सहायोंकी सहायताकेलिये ऋषियों और मुनियोंके हृदयोंमें ज्ञानका प्रकाश करता है। प्रभुकी प्रेरणासे प्रकाशित होकर वेद आदिसृष्टिसे आर्य-जीवनका मूल स्रोत बना आरहा है। वैदिक ऋषियोंका यह प्रकाश अज्ञानके अन्धेरेको मूलसे नाश कर देता है । पथभ्रष्टोंको मार्ग दिखाता है । निर्बलोंको बल प्रदान करता है । एकान्तमें सच्चे मित्रके समान मीठीतथा सच्ची बातें सुनाता है । प्रत्येक आर्यको चाहिये कि इस पवित्र अमृत स्रोतमें प्रतिदिन कुछ काल स्नान किया करें ।

७. यह भक्ति दो प्रकारसे प्रकट हो सकती है । प्रथम, जितना बन पड़े, नित्य स्वाध्यायका व्रत धारण करना चाहिये । ऋषि दयानन्दके ने आर्यसमाजके नियमोंमें इस भावको परमधर्म माना है । विचार करनेसे प्रतीत होता है कि सब शास्त्रोंका तथा सब धर्मोपदेशोंका मूलस्रोत होनेसे, वास्तवमें वेदपर आश्रित होना ही परमधर्म है। इसके करनेसे पुराने आर्य-जीवनकी ज्योतिके फिर जग जानेकी आशा हो सकती है ।

८. हमारी बात चीतमें वेद तथा वैदिक साहित्यके प्रति पूर्ण श्रद्धाका प्रकाश हो। इसके लिये आवश्यक है कि हमारे हाथमें सुन्दर रूपमें वेदकी पुस्तकें आवें और हम उन्हें पढ़कर, अच्छे २ मंत्र स्मरण करें और जहां अवसर हो, लोगोंको उन्हें सुनावें। अब तक जो इस ओर हमने उपेक्षाको धारण किये रक्खा है, उसका प्रायश्चित करना होगा। हमारी

वेदभक्तिका यह परिणाम होना चाहिये कि हमारे समाजमें अच्छे २ वेदके विद्वान् उत्साहित होकर सुन्दर साहित्यकी रचना करें। वेदका प्रत्येक भाषामें अनुवाद हो और प्रत्येक पुस्तकके नये २ संस्करण निकलें। प्रत्येक आर्यको यह अपना नित्यका कर्तव्य बनाना चाहिये कि प्रति दिन कुछ वेद मंत्रोंका अर्थ सहित पाठ कर लिया करे। इससे क्रियात्मक रूपसे वेदका प्रचार बढ़ेगा।

९. **ऋषिभक्ति**—आरम्भ कालसे ऋषियोंने वेदप्रचारके प्रति जीवन दान किये रक्खा है। हम तक उन्होंने ही यह सारा बहुमूल्य भण्डार पहुंचाया है। हमें उनके प्रति सदा आदरका भाव प्रकट करना चाहिये। जिस प्रकार उनके जीवनमें तप और त्यागकी प्रधानता थी, वैसे ही हमारे जीवनमें भी इन गुणोंका समावेश होना चाहिये। आर्य-समाजमें कुछ ऐसे लोगोंका भी होना अत्यन्त आवश्यक है, कि जो सर्वत्र देश, देशान्तरमें वेदके उच्च विचारोंका विस्तार करना ही अपने जीवनका मुख्य उद्देश्य बनावें। वेदकी विद्या उनका धन हो, सारा संसार उनका परिवार हो। और सर्वत्र प्रेमका व्यवहार करते हुए अपने विशाल भावोंसे वह सबका उपकार करने वाली हों। उनके चित्तमें सहानुभूतिका समुद्र सदा तरंगित रहता हो। यही प्राचीन ऋषियोंका भाव था। उनके पवित्र जीवनचरित्रोंको प्रत्येक आर्यको मनन करते रहना चाहिये।

१०. विशेषकर हमारा ऋषि दयानन्दके साथ समीपतम सम्बन्ध है। हमें चाहिये कि उनके आदेशानुसार, अपना

व्यवहार करते हुए, मन, वचन और कर्मसे उनकी कीर्तिका विस्तार करते रहें, परन्तु उनके विचारोंके विपरीत आचरण करना और मौखिक रीतिसे ही केवल उन्हें बड़े २ शब्दोंसे युक्त करना और सर्वज्ञ कहते रहना पक्की नास्तिकता है । ऋषिकी आज्ञानुसार विद्या और तप की वृद्धिकर, शुद्ध चित्त होकर, वैदिक साहित्यका मनन तथा प्रचार करो । यही सच्ची श्रद्धा है और यही वास्तविक भक्ति है । यह प्रकाशका मार्ग है, दूसरा अन्धकारका मार्ग है । प्रकाशमें विचरो, यही ऋषि चाहते थे ।

११. देशभक्ति—जिस मातृभूमिपर हम पैदा होते और स्थितिको धारण करते हैं, जिसके जल, वायु तथा अन्न हमारा जीवन हैं और जिनके न पानेसे हम विदेशमें व्याकुल होजाते हैं, उसके प्रति श्रद्धामयी भक्तिकी भावना अत्यन्त आवश्यक है । इसका प्रकाश चित्रोंके सामने प्रतिदिन मस्तक झुकानेसे, वृक्षोंके गिर्द तागे लपेटनेसे, पर्वतोंकी प्रदक्षिणासे, या नदियोंमें स्नान करनेसे नहीं हो सकता । हां, यह प्रत्येक आर्यमें उत्कट इच्छा होनी चाहिये कि मैं अपने देशको देखूं । शीतल नदियोंके तीरपर, सघन वनोंमें, हिमावृत पर्वत शिखरों पर, सूर्य्यकी धूपमें और पूर्ण चांदकी चांदनीमें वह आनन्द है, जो प्रत्येक हृदयको अपने देशके साथ बांधे रखता है ।

१२. परन्तु यह केवल बाहिरका प्रेम है । वास्तविक देशभक्ति इसमें है कि हम अपने देशको अधिक सम्पत्तिशाली और अपने देशवासियोंको अधिक सुखी और उन्नत करनेका यत्न करते रहें । अपने धर्मानुसार, देशहित तथा जाति-हितके कार्य्योंसे आर्योंको कभी कन्धा न हटाना चाहिये ।

यह सन्तोषकी बात है कि अपने आचार्य्यका अनुकरण करते हुए आर्यसज्जन सदा इस विषयमें अग्रसर ही पाये गये हैं। प्रभु करें कि ऐसे ही सदा बने रहें।

१३. विश्वभक्ति—इससे भी ऊपर उठा हुआ और अधिक विस्तारमयभाव, समस्त संसारकी भक्तिका होना है। आत्मिक दृष्टिसे जब मनुष्यका शरीरभी उससे पृथक् है, तो उसका इसके मोहमें ग्रस्त होकर यह अपना है, भिन्न है, यह शत्रु है, ऐसी कल्पना करना भी अविद्याश्रित है। आत्मा परमात्मामें विचरता है और वह सब स्थानोंपर एक रूप होकर विराजमान है। सब प्राणी उसकी प्रजा हैं। अतः प्रत्येक आर्यको विश्वव्यापक भ्रातृ-भाव तथा शुभचिन्तकताको धारण करना अपना धर्म समझना चाहिये।

१४. दूसरी जातियों तथा लोगोंसे स्नेह करता हुआ भी, वह अपनी जाति तथा देशसे विशेष प्रेम रख सकता है। बढ़ता २ यह भाव, मनुष्योंके अतिरिक्त, समस्त प्राणियों तक जा पहुंचता है। उस समय भक्तिकी प्रथम कोटि और यह पांचवीं कोटि एक आकार होजाती है। वस्तुतः जितना अधिक एक व्यक्ति प्रेममय बनता जाता है, उतना परमात्माके समीप होता जाता है। परमात्मा प्रेमरूप है। उसकी दृष्टिमें कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जो उसके प्रेमका पात्र न हो। यह उसके अगाध प्रेमका ही परिणाम है कि पतितसे पतित लोगोंको उन्नत होनेकी नित्य नई सामग्री और प्रेरणा मिलती है। यह वह आदर्श प्रेम है, जिसमें मस्तक और हृदय, विचार और वासना, न्याय और दया एक होजाते हैं। संकोच तथा छूआ-

छूतके निन्दित विचारोंको त्यागकर, सबको अपनालेनेका विचार आते ही, आर्यधर्म समस्त संसारका धर्म बना बनाया है ।

१५. यह भक्ति-पंचक हममेंसे प्रत्येकको अपनी नासिकाओंका श्वास बनाना चाहिये । यह आर्य-जीवनका सार है, यह आर्यकृतिका निचोड़ है । यह हममेंसे प्रत्येकके धारण करने योग्य शाश्वतधर्म है। यह आर्यधर्म प्रचारका सबसे प्रथम और प्रबल साधन है । शेष सब इसीके सहायक और इसीके अधीन हैं । इन विचारोंको दृढ़ करके दूसरे उपसाधनोंका विचार करना चाहिये ।

—:०:—

८—आर्य-सन्ध्याका महत्त्व ।

१. विचार मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है । वस्तुतः यह सत्य है, कि वह केवल भोजन द्वारा शारीरिक क्रियाओंमें प्रवृत्त होनेके योग्य होता हुआ पूर्णतया जीवित नहीं समझा जा सकता । भोजनसे वाह्य उष्णताका लाभ अवश्य होता है, परन्तु विचाराग्निके जलाये विना कोई मनुष्य अपने आपपर और पीछे दूसरे लोगोंपर किसी प्रकारका अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता ।

२. मनुष्योंमें तारतम्य पाया जाता है । एक वे हैं, जो आटा, दाल और लवणके अतिरिक्त आठ प्रहरमें और कुछ सोच नहीं सकते । पढ़ते हुए, पढ़ाते हुए, खेलते हुए, खिलाते हुए, उन्हें उदर भगवान्की सवारी ही रात दिन दिखाई देती

है । दूसरे वे हैं, जो ज्ञान, विज्ञानमें सर्वदा रत रहते हैं । खाने पीनेसे बेसुध होकर, वैज्ञानिक चमत्कारोंसे अपनी सब तृष्णाओंको शान्त करलेते हैं । तीसरे वे हैं, जो वसुन्धरा भरको अपना परिवार समझकर सोते जागते, उठते बैठते, हर हालमें परोपकारमें तत्पर देख पड़ते हैं । प्रत्येक व्यक्तिका ध्येय भिन्न २ है । उनकी विचाराग्निका इन्धन पृथक् २ है ।

३. सूर्य्य और चन्द्र, तारागण और नक्षत्र दिव्य हैं । प्राकृतिक दृश्यमालाकी भव्य-मूर्त्ति बड़ी सुन्दर और रिझानेवाली है । जलचर, स्थलचर और खेचर प्राणियोंके कौतुक और स्वभावका अध्ययन अत्यन्त गंभीर और रुचिकर है । नदी-तटपर बैठकर उसके स्रोतका, अथवा उन लोगोंका, जो क्रमशः उसके जलमें स्नान कर २ कराल कालके गालमें प्रविष्ट होगये, ध्यान करना काव्यप्रतिभाका उत्पादक और शान्तरसका परिवर्धक है । पर ये सारे विचार एक अवधिपर जाकर खड़े होजाते हैं । किसी विभागका यथार्थ रीतिसे अध्ययन करते हुए, आरम्भिक मूल, कारणावस्थाका ज्यूंही पर्याय आता है, मनुष्यकी सारी मननशक्ति चकित होकर, मानो, दांतों तले अंगुली दबाती हुई, वहींकी वहीं रह जाती है * ।

४. सारे ज्ञान, विज्ञान और विचार जिस एक केन्द्रपर इकट्ठे होते हैं †, जिसके आगे जाना और जिसके विषयमें किसी प्रकारका परिच्छेदात्मक वर्णन करना, हमारी

---

* पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः (कठ उप० १।३।११)

† सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति''(कठ० १ । २ । १५)

शक्तिसे बाहिर है *, वह परमपुरुष सारे ब्रह्माण्डमें † और उसके बाहिर भी समाया हुआ है ‡। वही सबका मूल कारण है §। श्रुति, स्मृति उसीका प्रतिपादन कर रही हैं। उसी सबसे श्रेष्ठ ध्येयका ध्यान करना उत्तम ध्यान है। उसीका मनन और निदिध्यासन और उसीका श्रवण मनुष्यको सबसे बढ़कर उपदेश है ¶।

५. यही सच्ची सन्ध्या है। सन्ध्या सम्यक् प्रकारसे ध्यान करनेको कहते हैं। उपर्युक्त रीत्यानुसार परमप्रकृष्ट ध्येयका ध्यान ही अभिप्रेत है। सच्चिदानन्द,सर्वव्यापक प्रभुका मनन तथा ध्यान करना मुख्य तात्पर्य है। अतः उस समय किसी अन्य सांसारिक व्यक्ति अथवा प्राकृतिक पदार्थका ध्यान करना उपयोगी नहीं, वरन् हानिकर तो है। पूजाका भाव स्वाभाविक है। सहस्रों और लाखों सम्प्रदाय इसी स्वाभाविक अपेक्षाके आधारपर चलते हैं। अज्ञान-विमूढ़ अवस्थामें और ज्ञान-प्रकाशमें पूज्य-आदर्शका भेद आवश्यक है। अतः किसी मत अथवा धर्मकी महत्ताका अनुमान उसके पूज्य-देवके आदर्शसे भी भली भान्ति होजाता है।

६. वैदिक सन्ध्यापद्धतिकी यह असाधारण विशेषता

---

* नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा (कठ० २। ६। १२)

† सभूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यातिष्ठद्दशांगुलम् (य० वे० ३१। १)

‡ तस्मिन्निदं सञ्च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु। (य० वे० ३२। ८)

§ आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते······तद्विज्ञासस्व····(तै० उ० ३। ६)

¶ प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान्······(य० वे० ३२। ९)

है कि यह किसी प्रकारसे भी परब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसी चेतन अथवा अचेतन पदार्थका पूज्य-भावसे समावेश नहीं करती। वेद इष्टदेव और उपासकके मध्यवर्त्ती किसी व्यवधानका सहन नहीं कर सकता। प्रत्येक भक्त अपनी २ भावनाकी स्थिरताके आधारपर उस भजनीय देवकी कृपाका पात्र बनता है। अन्याय और वैषम्यके मूलपर कुठराघात करती हुई वैदिक-सन्ध्या सर्वमङ्गल सिद्ध करती है।

७. इस उल्लेखसे सन्ध्या कब करनी चाहिए, यह प्रश्न अनावश्यक सा होजाता है। प्रभु हृदेशमें और हम भी वहीं, फिर समय क्यों पूछो? वेदकी आदर्श-शिक्षा इस भक्तिके शिखरसे मानो, उच्च स्वरसे उपदेश करती है:—

"मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिने दिवः।"

(ऋग्वेद८।१।२९)

अर्थात् "हे भगवन्! सकल संसारके प्रेरक प्रभो! प्रातः, दोपहर तथा अन्य सब कालोंमें हम आपकी आराधना करते हैं।"

८. क्या सुन्दर उपदेश है। भगवद्भक्ति हमारे जीवनका रस है। इससे हमें चौबीसके चौबीस घण्टे रसित ही रहना चाहिए। इस प्रकारके मन्त्रोंके आधारपर कई एकने सन्ध्याको त्रैकालिक आदि सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु प्रकरण तथा शब्दोंकी समीक्षा इसे अनावश्यक तथा निष्फल बना देती है। समयकी नियति संसारके व्यवहार तथा देश और कालकी अनुकूलतापर निर्भर है। संसारी पुरुष अनेकानेक व्यवसायोंमें व्यापृत होते हुए प्रातःके रमणीय

और सायंके शान्त समयको यदि परमात्माकी आराधनामें व्यतीत करें, तो उनका दिन और रात्रिका जीवन शान्तिसे आप्लावित रह सकता है। अतः स्मृतिकारोंने इन्हीं दो वेलाओंका विधान किया है *। श्रीरामचन्द्रजी महाराज तथा सीतादेवीका इतिहास तथा अन्य प्राचीन महापुरुषोंके व्यवहार इस विषयमें साक्षी हैं।

९. व्यायाम, स्नान आदि देह-धर्मसे निपट कर, अनुकूल आसनपर, अनुकूल परिस्थितिमें बैठा हुआ उपासक आचमन विधि द्वारा, अपने कण्ठ-विवरको कफादिसे मुक्त ही नहीं कर रहा, वरन् अपने शेष कार्य्यमय जीवन्से पृथक् भी करता है। हमारे हां यह मर्य्यादा है, कि जब किसीको विदा करते हैं, तो समीपतम जलकी कुल्या अथवा कुएं या तालाब तक उसको छोड़ने जाते हैं। इसी उपलक्षणसे तीन घूंट जलके हमारे सांसारिक तथा आध्यात्मिक जीवनोंको, मानो, विभक्त कर देते हैं। उपासक अपने हृदय-कपाट खोलकर अन्दर प्रवेश करना आरम्भ करता है।

१०. सबसे प्रथम वह 'ओ३म्' इस पदका उच्चारण करता है। यह शब्द एक महत्त्व पूर्ण संकेत है। यह परम पिताके समस्त गुणोंका युगपत् सार रूपसे ध्यान करनेके लिए परमेश्वरका निज नाम है। इसके अर्थोंका कोई अन्त नहीं,

---

* तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत।
उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन्॥ (षड्विंशब्राह्मणः ४।५॥)
तथा च,

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्य्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥ (मनु० २।१०३)

क्योंकि इसके वाच्यके गुणोंका कोई अन्त नहीं ‡। परमात्माका स्वरूप समस्त विद्याओंको धारण करनेपर भी धारण नहीं किया जा सकता। हमारी विद्याका आरम्भ 'अ' से है और शब्दमय विद्याकी समाप्ति एक प्रकारसे 'म्' है। 'म्' के उच्चारण करनेके यत्नमें होंठ ऐसे बन्द होते हैं कि फिर खुलते ही नहीं। अहा! क्या उत्तम संकेत है। परमात्मा तक पहुंचनेके लिए पहिले कण्ठ खोलो, अर्थात् विद्या तथा विज्ञानको धारण करो। अन्धविश्वाससे कोई बात स्वीकार न करो। परन्तु अपनी विद्याको आध्यात्मिक उन्नतिमें लगाते रहो। उस पदके समीप पहुंचनेका यत्न सदा करते रहो, जहां पहुंचकर सब संशय निवृत्त होजाते हैं, और मुंहपर मुहर लग जाती है *। इस आध्यात्मिक वृत्तिका उपदेश 'उ' में है। और 'अ' अर्थात् जिज्ञासा और 'उ' अर्थात् आत्मपरता मिलकर परम-पदकी प्राप्तिमें परिसमाप्त होजाते हैं। सारी विद्या और साधन सम्पत्ति हमें वहांतक पहुंचाकर अन्दर ही वापिस होजाती है। यह ओ३म्का तीसरा भाग 'म्' है।

११. संसारमें प्रत्येक वस्तुकी दुकान मिल जावेगी, परन्तु शान्ति और आनन्दकी दुकान नहीं मिल सकती। इसकी कामनासे प्रेरित होकर उपासक इस मार्गपर चलता है। अतः वैदिक सन्ध्याका प्रथम शब्द 'शम्' अर्थात् शान्ति है। प्रथम मन्त्रको इस प्रकार कल्याणकी इच्छासे प्रेरित होकर हम उच्चारण करते हैं। हमारी 'अभिष्टि' अर्थात् इच्छा और

---

* भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (कठ०)

(‡) नेति नेत्यादेशो भवति। (छान्दोग्य०)

परिस्थिति उन्नत हो। परन्तु अपूर्ण ज्ञानके कारण हम कई वार बालकोंके समान अग्राह्य पदार्थोंकी भी इच्छा कर सकते हैं। उनकी पूर्त्ति हमारेलिए कष्टप्रद होगी। अतः 'पीति' अर्थात् पूर्णताका साथ विशेषण है। और, किससे यह कामनाकी जाती है? वह 'देवी' अर्थात् प्रकाश स्वरूप है और वह "आपः" सर्वत्र विद्यमान है। हमारी उत्कट इच्छा यही है कि शान्तिकी चारों ओर वृष्टि हो।

१२. परन्तु यह वृष्टि तो आनन्दमय प्रभु सदा कर ही रहे हैं, तो क्या कारण है कि हम प्रायः अनुभव नहीं करते? हमारी निर्बलता! जिसकी घ्राणेन्द्रिय ठीक नहीं, उसे गुलाबकी सुगन्धिका क्या भान? अतः यदि हम चाहते हैं कि प्रभुके सार्वत्रिक आनन्दमें भाग लेवें, तो सर्व प्रकारसे अपनी दशाको बलयुक्त बनावें। यह दूसरे नम्बरपर हम प्रार्थना करते हैं।

१३. तो क्या प्रभु भैंसे और बैल को बल देता है और मनुष्यको नहीं दे रहा? ऐसा मानना दयालुको निर्दय बनाना है। यहां भी हमारा ही अपराध है। हम सब आध्यात्मिक और शारीरिक मर्य्यादाओंका उल्लंघन करते हुए, पाप, पुण्यका विचार सर्वथा छोड़ बैठे हैं। अतः हमारा बल हमें ही हानि पहुंचाता और अशान्त करता है। यह मार्जन अर्थात् शुद्धिका प्रकरण तीसरे नम्बरपर है।

१४. इन बढ़ी हुई तथा मार्जित शक्तियोंको संगृहीत कर, भगवद्भक्ति तथा जन-सेवामें लगाना चाहिए। अब तक इन्हें नष्ट किया अब तो चेतना चाहिये। यह प्राणायाम द्वारा हमें संकेत प्राप्त होरहा है।

१५. विचार उठता है कि यह बात क्या बनी ? आनन्द भी था, शक्ति भी थी, पर हमारा अपना आचार अच्छा न था, अतः हमें अनुभव नहीं होता था । यह शक्ति कौनसी है, जो हमारे आचारके अनुसार हमें फल देती है ? अघमर्षण मन्त्र इसका उत्तर दे रहे हैं । वह परम पिता सारे संसारके रक्षक हैं। हम मूर्खताके कारण अभिमान मदसे बदमस्त होकर अपना नाश कर लेते हैं। भला, जो सूर्य्य, चन्द्र और तारागणको आकाशमें धारण कराता है, प्रलयसे सृष्टि और सृष्टिसे प्रलय कर देता है और सर्व प्रकारके नियमोंका एक मात्र अधिष्ठाता है, वह हमें मर्यादा उल्लंघन करनेकी कैसे आज्ञा दे सकता है ? अतः हमें चाहिए कि हम कभी पाप-विचारोंसे मलिन न होने पावें ।

१६. और, हे मन ! यदि इस अघमर्षणके उपरान्त भी तेरे अन्दर कुछ अविश्वास और मालिन्यका अवशेष विद्यमान है, तो चल, जहां तेरा जी चाहता है । चारों ओर ऊपर और नीचे मनकी परिक्रमा करानेसे अणु २ में रमे हुए रामका अनुभव जागृत होता है । विवश होकर विनीत-भावसे युक्त होकर उपासक झुक जाता है । वैर द्वेषके क्षुद्र भावोंसे विमुक्त होकर परमात्माकी गोदमें विश्राम करनेके योग्य बनता है ।

१७. ठीक यह अवसर उपस्थान मन्त्रोंका है । प्रभुकी सार्वत्रिक प्रेरणा और उत्तम ज्योति देदीप्यमान होकर, चराचर जगत्‌का प्राण बन रही है । इस प्राणनाथके प्रकाश-सरोवरमें निमग्न होकर मन, वचन और कर्मकी एकताके महत्त्वको अनुभव करता हुआ 'स्वाहा' शब्दका दर्शन करता है ।

इस परमावस्थाकी स्थिरता इस बातके ऊपर निर्भर है, कि हम देव अर्थात् विद्वान् बनकर उस प्रभुकी उपासनाको अपने लिए परम हितकारी समझते रहें । कमसे कम १०० वर्ष तो इच्छा पूर्वक हम आर्यजीवन व्यतीत करें । दीनताको दूर करनेका और उपाय भी कौनसा हो सकता है ।

१८. इसकेलिए आवश्यक है कि हम कभी यह न समझ बैठें कि हम कृतकृत्य हो चुके हैं । वरन् सदा अपने पितासे बुद्धिको प्रेरित करनेके लिए प्रार्थना करते रहें और बुद्धिकी पवित्रताकी कसौटी क्या होगी ? यही, कि हम अपने समस्त कर्मों और धर्मोंको परमात्माके अर्पण करदें । प्रभो ! तेरी शक्तिसे सारा संसार चलता है । हमारी तेरे विना कोई गति नहीं । तेरे दिये हुए प्रकाशसे हम अपने कर्त्तव्यका जितना पालन करते हैं, वह तेरेसे छिपा नहीं । भगवन्, तू ही हमारी शरण है । इससे अधिक हम क्या कह सकते हैं ! भगवन्, तुम वास्तवमें आनन्दधाम हो । कृपा करो, हम सर्व प्रकारसे आपके चरणोंमें बैठनेके योग्य बन सकें । यह भाव है, जिसे गुरुमन्त्र तथा समर्पण मन्त्र सिखाते हैं ।

१९. यह आर्यसन्ध्या कितने गौरवसे युक्त है ! पूजाके तीन भाग होते हैं । स्तुति, प्रार्थना और उपासना । स्तुति यथार्थ स्वरूपके वर्णनको कहते हैं । प्रार्थना अपनी निर्बलताको अनुभव करके उसे दूर करनेकेलिये बलका मांगना है । उपासना प्रभुके स्वरूपमें निमग्न होनेका नाम है । आर्यसन्ध्यामें तीनों गुणोंका ठीक २ समावेश होजाता है । मन्त्रोंका क्रम इतना सुन्दर है कि जब जिस भावकी अपेक्षा हृदयमें होती है, तभी वह हमारे सामने आजाता है ।

२०. कोई २ सन्ध्यापर उपहास करते हुए कहा करते हैं कि प्रभुको हमारी खुशामिदकी अपेक्षा नहीं है। यह ठीक है, पर पूर्वोक्त सन्ध्याका भाव तो विधि पूर्वक अपनी सोई हुई शक्तिको जागृत करना और अपने असली स्वरूपको प्राप्त करना है । यह तो एक प्रकारसे आत्मिक व्यायाम है । सारा मल, विक्षेप और आवरण दूर होकर, शुद्ध आत्मिक ज्योतिका प्रकाश होने लगता है । लोकाचार यह है कि मांगनेसे पूर्व बड़े आदमीको प्रसन्न करनेके लिये चापलूसीकी जाती है, परन्तु आर्य सन्ध्याका पहिला भाग प्रार्थना रूप है । स्तुति मध्यमें है । वस्तुतः लोग स्तुतिके शास्त्रीय तात्पर्यसे अपरिचित होनेसे ही इस प्रकारकी हास्यजनक आशंकाएं करके आत्मिक उन्नतिके मार्गको रोकते हैं।

२१. आर्यसन्ध्याका इतना महत्त्व होते हुए भी आर्य लोग पूरा २ लाभ नहीं उठा रहे । ऐसी शक्तिकी आराधनाका फल यह होना चाहिए कि आर्य दीर्घजीवी, धनाढ्य, बलवान्, आत्मविश्वासी, सन्तोषी तथा उपकारी हों। अर्यसमाजमें यह गुण सामुदायिक रूपसे मौजूद हैं, पर दूसरे लोगोंसे व्यक्तिगतरूपमें मात्राका बहुत भेद नहीं । इसका कारण यह है कि सन्ध्या विधिपूर्वक नहीं की जा रही।

२२. जब तक सन्ध्याद्वारा संकल्प शक्तिको जागृत न किया जावे, तब तक केवल मन्त्रोंके उच्चारणसे आत्मिक लाभ नहीं होसकता । इसकेलिये आवश्यक है कि हमें मन्त्रार्थका स्पष्ट ज्ञान हो । विशेष चिन्तन तथा मनन द्वारा, हम उसका विस्तार कर सकें । स्थान, आसन, प्राणायाम आदिका हमें परिचय हो। पूरी श्रद्धाको जगाकर, हम ध्यान करें। अपने

आपको पूछें कि हम कहां हैं और हमने क्या करना है। यह निश्चित बात है कि ऐसा करनेसे मन जाग पड़ता है, अन्तःकरण शुद्ध होकर, पूर्ण आत्मिक चन्द्रकी चांदनीसे चमकने लगता है।

२३. इन बातोंका विचार न करके, विना समझे दो चार पल बैठकर उठ खड़ा होना सन्ध्या नहीं है। यह केवल अपना ही उपहास नहीं अपि तु आर्यसमाजके साथ अन्याय भी है। सारे संप्रदायोंका हमने इस लिये खण्डन किया कि उनमें पूजाका प्रकार वैज्ञानिक नहीं है और अंधविश्वास अधिक है, पर क्या एक आर्यका ठीक रीतिसे संध्या न कर सकना कम उपहासकी बात है?

२४. आत्माने विचारसे उन्नत होना है, न कि शब्दमात्रसे। आर्यमात्रको चाहिये कि उर्दू द्वारा सन्ध्याको न सीखें। इससे उनका उच्चारण प्रलयतक भी ठीक नहीं हो सकता। उन्हें आर्यभाषाको अवश्य जानना चाहिये और देव-लिपिमें ही मंत्रोंका अभ्यास करना चाहिये। शुद्ध आचरणके साथ अर्थोंका शुद्ध ज्ञान अत्यावश्यक है। इसलिये जिन्हें संस्कृत भाषाका बोध नहीं है, उनको चाहिए कि इन्हीं विचारोंको अपनी भाषाद्वारा हृदयमें उपस्थित किया करें। हार्दिक भावोंका प्रकाश ही भक्तिका सार है। शब्द और भाषा तो साधनमात्र हैं। मुख्य बातको सदा मुख्य स्थान ही देना चाहिए।

——:o:——

६—आर्यसभासद् ।

१. जो मनुष्य आर्य्यसमाजके नियमोंमें विश्वास रखता है और उपनियमोंकी मर्यादानुसार, अपनी आयका निश्चित भाग मासिक अथवा वार्षिक दानके रूपमें देता रहता है, वह आर्य्यसभासद् बननेका अधिकारी है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसके आचरण तथा व्यवहारकी ओर ध्यान ही न दिया जावे। आर्य-जीवनका उसमें पाया जाना अत्यावश्यक है। भाव यह है कि आर्य-धर्मके द्वार बहुत खुले रखने चाहियें। जिनकी इनमें श्रद्धा है उनके मार्गमें कोई बाधा न होनी चाहिये।

२. जैसे एक विद्यार्थी किसी पाठशालामें प्रविष्ट होनेसे पूर्व, उसकी ख्यातिसे उसकी उत्तमताका निश्चय कर लेता है, ऐसे ही जो सज्जन आर्यसभासद् बनने वाले हों, उन्हें तर्क, मनन तथा आर्य पुरुषोंके आचरणकी उत्तमताद्वारा आर्यसमाजकी श्रेष्ठताका विश्वासी होजाना चाहिये। शेष उनकी योग्यताका प्रश्न रह जाता है। जैसे प्रवेश-परीक्षाको उत्तीर्ण किये विना, कोई विद्यार्थी विश्व-विद्यालयकी परीक्षाओंमें नहीं बैठ सकता, इसी प्रकार यह आवश्यक है, कि आर्यसभासद् बनने वाले व्यक्तिके जीवनमें कोई दोष या व्यसन न होना चाहिये जिससे आर्यसमाजकी शोभामें कमी हो।

३. इसके साथ ही यह स्पष्ट समझलेना चाहिये कि आर्य्यसमाज सज्जनताकी ओर झुके हुए, मनुष्योंका ही समुदाय है। सोलह आने पूर्ण देवताओंकी किसी मनुष्य-समाजमें

आशा करना निराश होनेके लिये हो सकता है। पूर्णता प्रभुका गुण है। मनुष्यका यह आदर्श होना चाहिये कि पूर्णताका जाप करता हुआ, अपनी त्रुटियोंको पूरा करता चले। आर्यसभासदोंमें परस्पर त्रुटियोंको देखते हुए, उन्हें दूर करनेके लिये सहायता तथा प्रेरणाका स्वभाव होना चाहिये, पर सहानुभूति और क्षमा इस सहायताका आवश्यक अंग हो। जहां दोषोंके प्रति उपेक्षा मृत्युकी सीढ़ी है, वहां छोटी २ बातोंपर भौंएं चढ़ाते रहना भी स्वास्थ्यका चिह्न नहीं हो सकता।

४. आर्यसमाज इतना विशाल होना चाहिये कि इसमें सर्व प्रकारके सामाजिक अंगोंका समावेश हो सके। जो योग्य, श्रेष्ठ तथा अधिक धर्मात्मा हों, वे अधिकारी तथा पुरोहित आदि बनकर, साधारण सभासदोंको प्रेमसे अच्छे मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करें, पर उनके हृदयमें घृणाका भाव तनिक भी न होना चाहिये। उन्हें यह समझना चाहिये कि हम आर्यरुग्णालयके निरीक्षण करने वाले वैद्य हैं। वह वैद्य, वैद्य नहीं, जो रोगीके फोड़ोंपर थूकता हो। उसकी शोभा तो इस बातमें है कि प्रत्येक प्रकारके रोगियोंके रोगका ठीक २ निदान करके प्रेम तथा उत्साह पूर्वक चिकित्सा करे। हमें यह स्वीकार करनेमें कभी संकोच न होना चाहिये कि हम आर्यसमाजमें आत्मिक, मानसिक, सामाजिक और कई प्रकारसे शारीरिक रोगोंको दूर करनेकेलिये ही आये हैं।

५. जब यह रोग दूर हो जावेंगे, तो हम स्वस्थ अर्थात् अपने आपमें स्थित होजावेंगे। उस समय हम सब बन्धनोंसे छूटकर, अदीन, निरपेक्ष और स्वतन्त्र होंगे। परिपूर्ण जगदीश्वरके अमृतसरोवरमें स्नान करते हुए, उसकी

पूर्णताका आस्वादन करेंगे । शास्त्रोंमें इसे मोक्षका नाम दिया गया है । इस अवस्थाको पूर्ण नीरोगता कहा जा सकता है। ऐसे नीरोग आत्माओंको आर्यसमाजका सभासद् बननेकी क्या आवश्यकता है ?

६. इसलिये साधारण मनुष्योंकी अवस्थामें, जो नित्य उन्नतिकी इच्छा करते हुए, कुछ न कुछ पुरुषार्थ भी करते रहते हैं, जिनका आर्यधर्म की पवित्रतामें पूर्ण विश्वास है और जो आर्यसामाजिक नियमों तथा उपनियमोंको मानते हैं, उन सबको आर्यसभासद् बननेका पूरा अधिकार है। उन्हें बाहिर निकालने या घृणाकी दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न या स्वभाव स्वयं अनार्यभावका प्रकाशक होगा। वास्तवमें होना तो यह चाहिये कि ब्राह्मणसे लेकर भंगी और चण्डाल तकके लिये आर्यसमाजका द्वार खुला होना चाहिये । केवल जातिके आधारपर ऊंच और नीचका भेद करना, आर्यधर्मकी शिक्षाके विरुद्ध है। जिस चण्डालीने दुर्योधनके कहनेपर पाण्डवोंके घरको आग लगानेसे इनकार किया था, उसने यह स्पष्ट कर दिया था, कि छोटी कही जानेवाली जातियोंमें भी आर्य-हृदयका निवास होता है । संक्षेप यह है कि आर्यसभासदोंको आर्यजीवनकी ज्योतिके आगे ही झुकना चाहिये । दूसरे कुल, धन आदिके भेदको सदा पीछे हटा कर आर्यत्वके नातेसे परस्पर धर्मानुसार, यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये ।

७. आर्यसभासद्का आर्यसत्संगमें नियम पूर्वक उपस्थित होना आवश्यक कर्त्तव्य है । मिलकर यज्ञ, संन्ध्या तथा प्रार्थना करना और प्रभुकी भक्तिके गीत गाना सामाजिक

एकता तथा परस्पर भ्रातृभावका बड़ाभारी साधन है । कई सज्जन इन बातोंमें सम्मिलित न होकर, केवल व्याख्यान सुननेके लिये जाते हैं । कुछ ऐसे होते हैं, जो इस भागमें आलस्यके कारण शामिल नहीं होसकते और कई वार सुने हुए होनेके कारण या अपने आपको अधिक योग्य समझनेके कारण, व्याख्यानोंमें रुचि नहीं रखते । किसी तरह भी हो, सत्संग में न आनेसे आर्यसभासद्का सामाजिक भाव कम होता जाता है । ऐसे सभासदोंके बढ़ जानेसे सारा समाज ढीला पड़ जाता है । इसलिये प्रत्येक आर्यको चाहिये कि इस शिथिलताका कारण न बने ।

८. नियमपूर्वक दानका देना आर्यसभासद्की जागृतिका दूसरा चिह्न है । उसे अपनी आयका दशांश और शतांश ठीक ठीक निकाल कर आर्यसमाजके कोषमें डाल देना चाहिये । इसके लिए उसे किसी प्रेरणाकी आवश्यकता न होनी चाहिये । आज कलका रिवाज सन्तोषजनक नहीं । दानमें दबावका कुच्छ अर्थ नहीं । शतांश दिये विना तो सभासदीका अधिकार ही नहीं मिल सकता । वस्तुतः यह दान नहीं है, यह प्रवेश-शुल्क है । श्रद्धासे युक्त होकर, आर्यसमाजके सार्वजनिक कार्य्योंको चलानेके लिये दशांश या उससे अधिक देना ही दान कहला सकता है ।

९. पंचमहायज्ञोंका यथाशक्ति नित्य करना, जागृतिका तीसरा चिह्न है । सन्ध्याके विषयमें पूर्व कहा जा चुका है । दूसरे नित्यकर्मोंमें वृत्तिकी अधिक बात है । लोग खर्चसे यूंही डरते हैं । अग्निहोत्रपर यदि अधिक व्यय न किया जासके,

तो उसे छोड़ न देना चाहिये । शास्त्रने ऐसे उपाय बताये हैं, जिनसे एक पैसेसे भी कम खर्च करनेसे अग्निहोत्रसे आत्मिक लाभ उठाया जासकता है* । साधु, महात्मा, पुरोहित, उपदेशक तथा अभ्यागतको श्रद्धा पूर्वक घरमें ले जाकर, सेवा करनेका भाव आर्यसभासदोंमें बहुत कम दिखाई देता है। प्राचीन आर्यावर्त्तकी यह बड़ी शोभा थी । परिवारमें धर्म-प्रचारका यह बड़ा साधन है । माता, पिता, तथा गुरुजनोंकी सेवा पितृयज्ञ है । इसके ठीक चलनेसे कुलमर्यादा ठीक रहती है। पशु पक्षियोंके पालनसे मनुष्यमें सर्वात्मभावका विकास होता है और वह शीघ्र ही आत्मिक लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार नैमित्तिक कर्मकाण्ड, संस्कारादिका ठीक रीतिसे करना प्रत्येक आर्यको आवश्यक समझना चाहिये । ऐसा करनेसे उसमें आर्यत्व बढ़ेगा और लोगोंपर उसका प्रभाव अच्छा पड़ेगा। वह आकर्षणका एक केन्द्र बनकर, जीवनके विस्तारका करने वाला होगा ।

१०. और, अन्तमें उसे प्रयत्न करना चाहिये कि दूसरोंके साथ भली भान्ति संगठित हो सके। अकेली ईंटकी, चाहे वह बहुत पक्की हो, दूसरेके सिर फोड़नेके सिवाय कोई उपयोगिता नहीं, पर एक २ ईंट सीमेण्ट और चूनेसे संगठित होकर, सुन्दर भवन खड़ा कर देती है । यही अवस्था आर्यसभासदोंकी सामाजिक संगठनके विषयमें होनी चाहिये । इसका एक ही सर्वोत्तम उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिको दूसरोंको अपनेसे भिन्न सम्मति रखनेका अधिकार

---

* देखो, वैदिकाश्रम ग्रन्थमालाकी देवयज्ञप्रदीपिका पृष्ठ ७५-७६ ।

देकर, प्रेमपूर्वक उनकी बातको सुनकर तोलना चाहिये। हठधर्मी और दुराग्रह छोड़कर सामाजिक कार्यों में बहुसम्मतिके और व्यक्तिगत कार्य्यों में सत्यके अनुसार व्यवहार करता हुआ, आर्यसभासद् वस्तुतः आर्यसमाजका एक स्तंभ होगा। यह नमूना है, जिसको सदा अपने सामने लक्ष्य बनाकर रखना चाहिये।

—:o:—

१०—आर्य-मन्दिर।

१. यदि हममें पूर्व लेखोंमें वर्णित प्रकारसे आर्यत्व पूरे रंगमें पैदा होजाता है, तो हम जहां भी हों, अपना संदेश दूसरोंके कानों तक पहुंचा सकते हैं। धर्मप्रचारमें मुख्य साधन आर्य्यजीवन है, परन्तु जहांतक कार्यको संगठित रूपसे चलानेका सम्बन्ध है, कई एक उपसाधनोंका भी विचार करना आवश्यक होगा। इनमें से ठीक प्रकारके मन्दिरोंका होना बड़ा उपयोगी साधन है। प्रत्येक स्थानपर आर्यों को चाहिये कि वे मन्दिर बनावें। बड़े २ नगरोंमें, यदि हममें सामर्थ्य हो, तो एकसे अधिक भी मन्दिर होने चाहिये, जो मन्दिर बन चुके हैं, उनकी बनावटके विषयमें तो अब अधिक परिवर्त्तन करना कराना कठिन होगा। आर्यसमाजकी प्रान्तीय तथा सार्वदेशिक सभाओंको अपने योग्य शिल्पशास्त्रियों तथा पण्डितों और महात्माओंकी सम्मतियोंसे एक आदर्श चित्र तय्यार कराना चाहिये, जहां २ नये मन्दिर बनें, उसीके अनुसार होने चाहियें। वर्तमान अवस्थामें आर्यमन्दिरोंमें कुछ

समानता तो होती है, पर बहुतसे स्थानोंपर साधारण घरोंसे उनकी विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। जहां तक होसके, प्राचीन मन्दिरोंकी बनावटका अनुकरण करना उपयोगी होगा।

२. प्रत्येक मन्दिरमें अधिवेशन करनेका बीचका बड़ा कमरा हो, उसके एक ओर पूर्वाभिमुख बड़ी सुन्दर तथा उच्च आसनपर व्यासपीठ या वेद-वेदी सजी हो। इस वेदीकी हालकी छतके अतिरिक्त, अन्दरसे गोलाईमें एक और छत हो, जिससे यह एक पृथक् मन्दिरसा प्रतीत हो। इसका चबूतरा बढ़िया से बढ़िया पत्थरका और छत तथा खम्बे बड़े अच्छे प्रकारसे बने हों। लम्बी चौकी पड़ी हो और उसपर उत्तम वस्त्र बिछा हो। इसपर स्थूलाक्षरोंमें उत्तम रीतिसे छपी हुई वेदोंकी पुस्तकें हों इनके ऊपर फिर सुन्दर वस्त्र पड़ा हो। पुस्तक बाँचने वालेके लिये चौकीके पीछे सुन्दर आसन बना हो। इसी भवनमें वेदवेदीके साथ ही यज्ञमण्डप हो; उसके अन्दर पक्का कुण्ड बनवाना चाहिये। इसके चारों ओर मेखला हो और जलकी नाली हो। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि जब चाहे उसे धो सके। चारों ओर आसन लगे हुए हों। यज्ञशालाका चबूतरा कमरेके फर्शसे कुछ ऊँचा हो। मन्दिरमें समिधायें तथा हवनका सामान सर्वदा विद्यमान रहे। शुद्ध हवनमंत्रकी प्रतियां कुछ संख्यामें मौजूद हों। वर्तमान स्थितिमें जिन पात्रोंकी आवश्यकता पड़ती है, उनकी सूची तथा आदर्श सभाको ही निश्चित करना चाहिये। तदनुसार सब पात्र प्रत्येक मन्दिरमें रक्खे जावें। बड़ी बड़ी केन्द्र संस्थाओंमें वे समस्त पात्र रखनेका यत्न करना चाहिये, जो प्राचीन यज्ञोंमें प्रयुक्त होते थे। प्रति दिन सायं

प्रातः मन्दिरमें अग्निहोत्र होना चाहिये। उस समय जो आर्य-सभासद् पहुंच सकें और विशेष करके वे जो नित्य घरपर अग्निहोत्र न कर सकते हों, अवश्य पधारें। श्रद्धासे तथा उच्च स्वरसे वेद मन्त्रोंका पाठ हो। कुण्डको नित्य शुद्ध करके रखना चाहिये।

३. आर्य मन्दिरोंमें एक बड़ा घण्टा लगा हुआ हो। प्रति दिन अग्निहोत्रके समय इसे विशेष रीतिसे बजाया जावे। यह मन्दिरके ऊपर गोलाईमें लगा हो, ताकि इसकी गूँजती हुई ध्वनि सब स्थानोंपर सुनाई दे। साप्ताहिक तथा विशेष उत्सवोंके अवसरपर भी इसे निश्चित प्रकारसे बजाया जावे। ऐसा प्रबन्ध होजानेसे जनताको सूचना होजाती है और यह प्रथा लाभदायक है।

४. हमारे कर्म-काण्डकी बड़ी विचित्र दुर्दशा है। प्रथम तो कोई समय ही निश्चित नहीं। शास्त्रकी बात आप जाने दीजिये। व्यवहारमें सिद्ध वस्तुको ही प्रमाण समझ सकते हैं। नियम पूर्वक ठीक समयपर सन्ध्या आदि करने वाले बहुत कम हैं। अग्निहोत्र प्रत्येक घरमें होना चाहिये, परन्तु कहां होता है? घण्टेके बजनेसे जहां समयकी सूचना होगी, वहां देखा देखी आलस्य दूर होकर धर्ममें प्रवृत्तिके बढ़ जानेकी सम्भावना है।

५. जिस समय मैं मुसलमान भाइयोंकी बाँगको या इसाईयोंके घण्टोंको सुनता हूं, तो मेरे चित्तमें एक विशेष उल्लास पैदा होता है। चीनसे लेकर मराकू तक एकही प्रकारसे और एक ही समय, ऊँचे स्थानपर खड़ा होकर मुल्ला बांग देता

है। रविवार प्रातः ही गिर्जाघरोंसे मधुर ध्वनि आनी आरम्भ होती है। किसी देशमें चले जाओ, आपको प्रतीत होगा कि मसजिद और गिर्जाघरमें सर्वत्र समानता पाई जाती है। पहिरावा बदल जाता है, बोली बदल जाती है, पर एक वस्तु वही रहती है और वह इन लोगोंका मन्दिरके साथ सम्बन्ध है।

६. हम भी संगठन चाहते हैं। संगठन जहां मानसिक भावोंकी पुष्टि चाहता है, वहां इसके लिये बाहिरका आकार भी आवश्यक होता है। कई वार बाहरका आडम्बर असली धर्मको अपने स्थानसे हटा देता है। हमें यत्न करना चाहिये कि मुख्य बातें मुख्य रूपसे की जावें और गौण बातोंको भी उचित स्थान मिलता रहे। यह नहीं हो सकता कि बाहिरके कार्योंको बिलकुल छोड़ दिया जावे। कई वार मनुष्य पाखण्ड छोड़ता २ नये पाखण्डका शिकार बन जाता है। प्रत्येक बातमें पाखण्डको ही समझना स्वयं एक बड़ा पाखण्ड है। बुद्धिमान वह है, जो सब प्रकारसे आवश्यक कार्योंमें ठीक प्रकारसे समता स्थापित कर सकता है।

७. मन्दिरोंमें पुराने आर्य रिवाजके अनुसार जलका यथायोग्य प्रबन्ध होना चाहिये। कुछ कुशाके या ऊनके आसन तथा कुछ जल-पात्र भी मौजूद रहें। इसका प्रयोजन यह है, कि लोगोंको आपके मन्दिरमें बैठकर सन्ध्या आदि करनेका पूर्ण सुभीता मिलना चाहिये। मन्दिरमें सर्व प्रकारकी शुद्धिका पूरा प्रबन्ध हो। कहीं दुर्गन्ध या सड़ान्द न हो। मलमूत्रके विसर्जनका

निश्चित और अलग स्थान हो। जहां मन्दिर अबादीसे हटकर बनें हों और समीप ही जंगल हो, वहां विशेष प्रबन्धकी शायद आवश्यकता न हो। उपनगरोंमें तथा गाँवोंमें मन्दिर पृथक् स्थानोंपर बनाने अच्छे हैं, बड़े नगरोंमें जैसा सम्भव हो, वैसा कर लेना चाहिये।

८. यह हमारा यत्न होना चाहिये कि हमारे मन्दिरोंमें नित्य वेदकी कथा हुआ करे। आधुनिक जीवनका विचार करते हुए भी यही उचित प्रतीत होता है कि प्रातःकाल ही इसका प्रबन्ध किया जावे। हमारी जनता तीन भागोंमें विभक्त हो सकती है। प्रथम दफ्तरों, स्कूलों और कचहरियोंमें जाने वाले, दूसरे दूकानदार और तीसरे कारीगर या मजदूरी पेशा लोग।

९. इनमें सबसे अपराधी दूसरा विभाग ही प्रतीत होता है। अध्यापक, वकील तथा दफ्तरोंवाले यत्न करनेपर समय निकाल लेते हैं। मजदूर लोग भी निश्चित समय तक कार्य करते हैं, पर दूकानदारोंका विचित्र हाल है। प्रातः सबसे पहिले दूकान पर आजावेंगे, ताकि पहिले ग्राहक इन्हींके द्वारपर आवें। प्रातः स्नान तथा सन्ध्याकी यह बड़ी दुर्दशा करते हैं। व्यायाम और भ्रमण तो यह बाबू लोगोंका फ़ैशन ही समझते हैं। जिस रोटीकेलिये ये दिन रात एक करते हैं, उसका तो बहुत ही अपमान करते हैं। अब इनके भोजनके पदार्थ और प्रकारको देखा जावे, तो प्रतीत होता है कि यह किसी प्रेतके गुमास्ते हैं और अपने लिये वह कुछ नहीं कमाते। यह विभाग है, जिसे अपना समय नियमित करनेका पूरा यत्न करना चाहिये। आपसमें कमेटियां करके दुकान खोलने और

बढ़ानेका ये समय निश्चित करें। इनके मनमें कुछ स्वाभाविक श्रद्धा अधिक ही होती है। इसलिये प्रातः कथाका जब प्रबन्ध होगा, तो सभी शनैः २ लाभ उठाया करेंगे, पर यह कोई बात नहीं कि कितने सुनने आते हैं? अभी आर्यसमाजने स्त्री जातिकी श्रद्धाका बहुत कम फल चखा है। धर्मका काम समझ कर, मन्दिरोंमें सरल रीतिसे इन कथाओंके नित्य चल पड़नेसे सुनने वाली जनता स्वयमेव पैदा होगी।

१०. पुस्तकालय तथा वाचनालयका होना भी मन्दिरकी शोभा है, परन्तु यहांपर हमें बड़े विचारसे काम लेना होगा। चुना हुआ, स्वास्थ्यप्रद साहित्य ही अलमारियोंमें और मेज़ोंपर रहना चाहिये। वाचनालय निःशुल्क हो, परन्तु पुस्तकालयका वार्षिक चन्दा तथा कुछ निक्षेप नियत होना चाहिये। आर्यसभासद् इससे मुक्त किये जा सकते हैं अथवा उनकी दर कम की जा सकती है।

११. प्रत्येक मन्दिरके साथ,जहांतक बन सके खुला आँगन अवश्य होना चाहिये। इसमें व्यायामका मुख्य रूपसे स्वदेशीय ढंगपर पूर्ण प्रबन्ध हो। वाचनालय तथा व्यायामशालाके समय इस तरहसे जोड़े जा सकते हैं कि लोगोंमें सन्ध्या और अग्निहोत्रका प्रचार भी हो सके। व्यायामशालाका पूर्ण प्रबन्ध होनेपर कुछ शुल्क रखकर एक योग्य शिक्षक भी रखा जा सकता है।

१२. मन्दिरके साथ लगे हुए कुछ कमरे यात्रियोंके आरामके लिये हों। इनमें निवासके नियम लिखे हुए लटके रहें। इन नियमोंमें सन्ध्या आदिमें यथाशक्ति सम्मिलित

होना भी लिखा हो। यात्रियोंके आरामके लिये अपनी दशाके अनुसार चारपाई आदिका होना भी अच्छा है । यह कमरे शुद्ध हों और जब कोई यात्री आवे, तो उसे खोलकर स्थान देदिया जावे। यदि बिजली आदिके प्रकाशका प्रबन्ध हो, तो उसका शुल्क लगाना चाहिये। समाजमें एक स्थायी रजिस्टरपर पर प्रत्येक यात्रीका नाम और पता लिखा जाया करे। यदि वह समाजको कुछ दान दे, तो वह भी वहीं लिखा जावे।

१३. यह प्रत्येक मन्दिरके आवश्यक अंग हैं, इस सारे कार्यको ठीक चलानेके लिये प्रत्येक मन्दिरके साथ एक विद्वान् पुरोहितका होना अत्यावश्यक है। मन्दिर सर्वदा खुला रहना चाहिये, कोई जिज्ञासु अथवा और कोई जब आये, तो पुरोहितको उसे आर्य धर्मका उपदेश करना चाहिये। सब कुछ ठीक होते हुए भी, पुरोहितके विना मन्दिरका उपयोग आधा भी नहीं रहता। इसके लिये ऐसे पुरोहित पैदा करने होंगे, जो अपने अच्छे स्वभावसे सबको अपना प्रेमी बना सकें।

१४. वस्तुतः यह सारा आडम्बर उसीकेलिये तो है। इस सबका यह प्रयोजन है कि योग्य पुरोहित वहां बैठ कर अपना प्रभाव पैदा कर सके। उसमें इस कार्यमें उपयोगी गुणोंका पाया जाना बड़ा आवश्यक है। वह पवित्र जीवन वाला तथा नियमबद्ध नित्य कर्मी हो। उसे पढ़ने पढ़ाने तथा कथामें रुचि हो। वह संयमी और निर्लोभ हो, व्यायाम आदिमें उसकी प्रीति हो। यदि वह वैद्यक भी जानता हो, पर पेशेके तौर पर आजीविकार्थ न करता हो, तो और भी अच्छा है।

१५. मन्दिरका पुरोहित वह व्यक्ति है, जो अच्छा

रह कर बड़ा कल्याण कर सकता है। सभासदोंके अन्दर धर्मकी ज्योति और प्रीतिको जीवित रख सकता है। उनकी संख्यामें वृद्धि करके आर्यसमाजका विस्तार कर सकता है। यात्रियोंके द्वारा दूर २ तक आर्यसमाजकी कीर्त्तिको पहुंचा सकता है। अतः ऐसा व्यक्ति होना चाहिये, जिसने विद्या-प्राप्तिके साथ२ तपका साधन भी किया हो, अन्यथा लोभादिके वशीभूत होकर हानिकारक हो सकता है। जब सच्चे पुरोहित होंगे, तब ही वस्तुतः यह आदर्श मन्दिर आर्य जीवनके केन्द्र बन सकते हैं। केवल ईंटों और पत्थरोंसे जितना काम निकल सकता है, वह असंख्य गुणा बढ़ जाता है। जब उनके पीछे एक जीवित जागृत व्यक्ति कला घुमाने वाला मौजूद हो।

१६. अतिथिशाला, व्यायामशाला, पुस्तकालय तथा वाचनालयके सामने पृथक् २ कार्यके पृथक् २ दान पात्र बन्द करके लगे रहने चाहियें, लोगोंमें दानकी प्रवृत्ति होती है। परन्तु साधन न मिलनेसे यह शुभ संकल्प पूरा नहीं कर सकते। इन साधनों द्वारा लोगोंको अवसर मिलता है कि वे पुण्यके भागी बनें और सार्वजनिक कार्य्योंमें सहायक हो सकें।

१७. पूर्वोक्त बातें नई नहीं हैं। प्रत्येक आर्यसभासद्को इनको पढ़ कर अपनेसे यह प्रश्न करना चाहिये कि मेरे होते २ मेरा मन्दिर मेरे धर्मका केन्द्र बन सकता है या नहीं? यदि नहीं, तो क्यों? इस क्योंका उत्तर सोच कर, त्रुटियोंको पूरा करके जो पवित्र कार्य हमारे सामने है, उसे ठीक कर लेना चाहिये। इस पूर्तिके तीन स्तम्भ हैं—प्रथम धन,

दूसरा पुरुषार्थ और तीसरा पुरुषार्थका प्रेरक सच्चा पुरोहित। इन सब कार्य्योंको आर्यसभासदोंने सहयोग और संगठनसे उपस्थित करना है।

—-*:o:*—-

११—आर्य-सत्संग और संगठन।

१. सत्सङ्गके शास्त्रोंमें असंख्य गुण गाये गये हैं। यह कोई ऐसी बात नहीं, जिसे हम स्वयं अनुभव द्वारा न देख सकते हों। कौन ऐसा मन्दभाग्य है, जिसे अपने जीवनके अन्दर कुछ घंटे या मिनट ऐसे व्यतीत हुए २ स्मरण नहीं हो सकते, जब किसी विशेष पुरुषकी सेवामें बैठे हुए उसने चित्तमें चलते हुए शांति-प्रवाहका आस्वादन किया हो?

२. आर्यसमाजमें ऐसे महानुभावोंका वस्तुतः अभाव है, जिनके आकर्षणसे जनता स्वत एव प्रभावित होती रहे। भजनों और व्याख्यानोंकी कमी नहीं। आर्योंकी व्याख्यान शैली संसार भरमें प्रभाव पैदा कर सकती है। बड़े २ उत्सव बड़े समारोहसे होते हैं, सहस्रों मनुष्य उनमें सम्मिलित होते हैं। प्रसिद्धसे प्रसिद्ध वक्ता लोग वहां पर निमन्त्रित होते हैं। बड़ा अच्छा प्रबन्ध होता है, पर इस सारी दौड़ धूपके पीछे ऐसी थकावट पैदा होती है कि बस, पड़े २ फिर दूसरे उत्सवके समीप ही जाकर आंखें उघड़ती हैं।

३. इसका यह अभिप्राय नहीं है कि महोत्सवोंका और सम्मेलनोंका महत्त्व नहीं है। यह अवश्य होने चाहियें। इनसे जागृति पैदा होती है। संसारका बहुत सा सोया हुआ

भाग भी कुछ चेतन होने लगता है । सामाजिक लाभ भी कम नहीं । संगठनका बीज ऐसे ही पड़ता है । मिलकर कार्य्य करनेका स्वभाव परिपक्क होता है । सब कार्य्य इसलिये इन्हें केवल आडम्बर, पाखण्ड और दिखावा कहकर बन्द नहीं करने चाहियें ।

४. हमारे सम्मेलनों तथा महोत्सवोंके स्वरूपमें धार्मिक समावेश होना चाहिये। केवल रौनक और गाने बजानेमें ही सारा समय व्यतीत न करना चाहिये। प्रत्येक महोत्सवके साथ उस प्रदेशमें रहने वाले आर्योंकी निजी बैठक पृथक् होनी चाहिये। शेष बहुतसा समय जहां जन-प्रचारमें लगाया जावे, वहां प्रतिदिन रात्रिके समय अथवा अन्य उचित समयपर, आर्यसभासद् बैठकर अपनी उन्नतिका व्योरा पढ़ें और सारे वर्षके कार्य्यकी जांच पड़ताल करें। उस सभामें सुपठित स्त्रीसमाज भी सम्मिलित हो। इसका एक विशेष लाभ होगा। साधारणतया हमारे अधिकांश धार्मिक कार्य्य घरेलू बाधाओंके कारण रुक जाते हैं। देवियोंको भी सम्मिलित कर लेनेसे उनका उतरदायित्व बढ़ जावेगा और शनैः २ गाड़ी चल पड़ेगी। आरम्भमें ऐसे भी यत्न होसकता है कि उसी प्रकारसे महिला-मण्डलकी पृथक् बैठक कराई जावे।

५. इस सम्मेलनमें स्थानिक समाजके प्रचार संबन्धी कार्य्यकी समालोचना की जावे। समीप २ के उपनगरों तथा ग्रामोंके अन्दर प्रचार कैसे हो रहा है, इसपर विचार किया जावे। प्रत्येक सभासद् पृथक् २ अपनी डायरी देखकर अपना कार्य्य सुनावे। अपनी २ आयके अनुसार दानकी व्यवस्थापर

पूरा ध्यान दिया जावे। छिद्रान्वेषणके भावसे नहीं, वरन् परस्पर उन्नतिके विचारको सामने रखकर, आचार व्यवहार सम्बन्धी सब बातें वहांपर स्पष्ट की जावें । आगेके लिये व्रत लिये जावें। प्रत्येक सभासद्का कार्य्य निश्चित किया जावे। पूर्वोक्त आर्यजीवनको पूर्ण रीतिसे समावेश करनेका यत्न करना तथा उपायोंका विचारना ही ऐसे सम्मेलनोंका ध्येय हो ।

६. इस वार्षिकमहोत्सवके सर्वसाधारण कार्यक्रमके दो भाग हों। आर्यधर्मका सन्देश विविध दृष्टिकोणोंसे लोगोंको सुनाया जावे। प्राचीन आर्यावर्त्तका गौरव-शाली वृत्तान्त तथा शास्त्रीय विचारोंको, जागृति पैदा करनेके विचारसे, सरलरूपमें वर्णित किया जावे। दूसरे भागमें सापेक्ष धर्म (comparative religion) पर निबन्ध पढ़े जावें। इसमें भिन्न २ मतोंके शुद्ध भावोंको अपने साथ मिलाकर दिखलाया जावे । दूसरे मतोंके प्रतिनिधियोंको भी यह लेख उपस्थित करनेके लिये निमन्त्रित किया जा सकता है ।

७. इस कार्यक्रमसे लोगोंका ज्ञान ठोस होगा। केवल ऊपर २ तैरने वाली हाहा न रहेगी । बोलनेवाले योग्यतासे तय्यारी करके आवेंगे। अनाप शनाप बकवास न होगा। सत्यासत्यकी परीक्षा करनेके लिये अनुकूल वायु-मण्डल पैदा होता जावेगा। यह अच्छी तरहसे हमें मनमें बिठा लेना चाहिये, कि हमारे आर्य होनेका फल किसी का दिल दुखना न होना चाहिये । हमें तो अपने भक्ति-पंचकसे विद्वेषियों तथा उदासीनोंके हृदयोंको अपनी ओर खींचना है। हम महोत्सव केवल इस विचारसे रचाते हैं कि जहां पहिले आर्य

दृढ़ बनें और अपनी उन्नतिके लिये नूतन जागृतिका अंश धारण करें, वहां दूसरे बड़े भारी जन-समूहमेंसे, जो अभी कर्कश शिलाके समान निश्चल खड़ा है, नये लोग आर्यत्वके श्रद्धालु बनें और दीक्षित हों।

८. दीक्षितका शब्द सोचकर प्रयुक्त किया गया है। धर्म आत्माका जीवन है, आत्माकी मिठास है और आत्माका रस है। इसको धारण करनेके लिये आन्तरिक शान्ति परमावश्यक है। परन्तु वाह्यविक्षेप तथा कलकलसे इसका नाश होजाता है। बुद्धिसे मनवाकर दीक्षा नहीं दी जा सकती। हृदय जब तक अङ्गीकार न करे, आत्मा स्वयं जागृत होकर धारण करनेको तय्यार न हो, धर्म किसीके अन्दर प्रविष्ट नहीं होसकता। इस लिये हमारे महोत्सवके स्वरूपमें मौलिक परिवर्त्तन पैदा होना चाहिये। उपर्युक्त भावोंको प्रकट करनेका प्रयोजन यही है। यदि आर्य नेता तथा विद्वान् इस विषयमें सहमत हो सकेंगे, तो अवश्यमेव यह इच्छा पूरी हो जावेगी।

९. सम्मेलन तथा महोत्सवके अवसरपर अपनी मधुर वाणीसे गानेवाले गन्धर्वोंका होना शोभाकी बात है, परन्तु विशेष योग्य व्यक्तियोंको छोड़कर साधारण भजनीक लोग बीचमें लम्बी चौड़ी व्याख्याओंसे परहेज़ ही किया करें, तो अच्छा है। उनको यही यत्न करना चाहिये कि उनका शब्द स्पष्ट, सरल, हृदयतक पहुंचनेवाला और अभिप्रायसे पूर्ण हो। इसके लिये केवल तुकबन्दी और नाटकी गीतोंका गाना ठीक नहीं रहता। यह कितने खेदकी बात है कि आर्योंमें गान-विद्याकी इतनी दुर्दशा हो रही है? भक्ति, ऋषियोंके उपदेश

तथा पवित्र चरित्र, मनुष्यमात्रका प्रेम: स्वधर्म, स्वजाति, स्वदेशकी महिमा तथा आर्यधर्मका गौरव इत्यादि इन भजनोंके विषय हों। यहां फिर स्मरण रखिये, मर्म-वेधी गीतोंको कभी गाने नहीं देना चाहिये। वस्तुतः हम भजन इसलिये सुनते हैं कि गानकी मिठास हमें अपनी ओर खींचे लिये जाती है। इस पवित्र शक्तिको धर्म-प्रचारका साधन बनाओ। गालीगिलोच अधर्मके परिवारमें आते हैं।

१०, वार्षिक महोत्सवों तथा सम्मेलनोंपर आर्य-पुरुषोंमें विशेष उत्साह दिखाई देता है। महत्त्व पूर्ण व्याख्यान होते हैं और जातीय समस्याओंको सुलझाने वाले प्रस्ताव भी स्वीकृत होते हैं। उस समय तो प्रतीत होता है कि अब मैदान मारा गया, पर जब फिर दूसरा उत्सव आता है, तो उन्हीं बातोंको दुहराया जाता है। हमारा कार्य और चरित्र हमारे प्रस्तावोंका साथ नहीं देता। इस त्रुटिके कारणको मालूम करके इसे ठीक करना आवश्यक है।

११. एक महोत्सवको दूसरे महोत्सवके साथ कोई संबंध नहीं होता। जैसे दिन और रातका, सप्ताहके दिनोंका, वर्षके मासोंका और ऋतुओंका परस्पर क्रम और संबंध होता है, वैसे हमारे उत्सवोंका आपसमें कोई क्रम और संबंध नहीं। जो इस वार बात निश्चित हुई है, यदि उसपर वर्ष भर बराबर विचार और आचरण होता रहे, तो फिर दूसरे उत्सवपर हम स्वयमेव अपना पग उन्नति पथपर कुच्छ आगे ही धरेंगे। अन्यथा जैसे प्रथा चल पड़ी है, प्रतिवर्ष एकसा ही कार्य्य होता रहेगा और वह भी शनैः २ फीका प्रतीत होने लगेगा।

इस कमीको पूरा करनेका उपाय दैनिक और साप्ताहिक सत्संगोंका प्रचार और संशोधन है।

१२. इस समय दैनिक सत्संगका रिवाज न होनेके समान है। हमारे हां मन्दिरों तथा धर्मशालाओंमें, पुरानी प्रथा अभी कुच्छ २ मौजूद है। आर्य लोगोंने न केवल इस पुराने स्वभावको छोड़ा है, वरन् जैसे करना उचित था, आर्यमन्दिरोंमें आनेका अभ्यास भी नहीं किया। अनेक स्थानोंपर आर्यमन्दिरोंका द्वार ही आठवें दिन खुलता है। इससे दो प्रकारकी हानि होती है—एक तो आर्य पुरुषोंकी अपने धर्ममें प्रवृत्ति कम होती है और सामाजिक कार्य्योंके करनेमें रुचि नहीं बढ़ती। दूसरे, नये लोग आर्य्य धर्मके भक्त नहीं बनते। इसका परिणाम यह है कि जिस सरोवरमें नया पानी न आवे और पुरानेको शुद्ध तथा सुरक्षित रखनेका कोई उपाय न हो, उसकी जो अवस्था हो जाती है, वही सामुदायिक प्रकारसे हमारी होने लगी है।

१३. इसकी जांच करने का आसान प्रकार है। किसी स्थानके आर्य्यसमाजके सभासदोंकी सूचीको देखना आरम्भ कर दो। गत दश वर्षमें देखो कितने पुराने आर्य्य स्वर्गवास हो चुके हैं और कितने नये भरती होते रहे हैं? स्थानीय सभासद् कितने हैं और अन्य स्थानोंसे बदलकर कितने आये हैं? इस जांचसे आपको निश्चित हो जावेगा कि आर्य्यसमाज व्यवहारिक रूपमें किसी स्थानपर भी गहरा नहीं जारहा, ऊपर २ अवश्य खड़ा है, पर जन-समूहका धर्म नहीं बन रहा।

१४. विश्व-व्यापी होनेका अर्थ यह नहीं है कि दो सहस्र नगरोंमें आर्य समाजके मन्दिर हों और वहां पर दो चार आदमी कभी २ आजाते हों। न होनेसे कुच्छ होना अच्छा तो है, पर हमारा ध्येय इतना ही नहीं। हमारा यह लक्ष्य होना चाहिये कि प्रत्येक प्रान्त और प्रत्येक देशमें आर्यधर्म जड़ पकड़े। यह सर्वत्र सर्वसाधारणका धर्म बने। इस आशयसे यदि हम परीक्षा करते हैं, तो उदाहरणके लिये ब्रह्मदेश या बंगालका आर्य्यसमाज उन प्रान्तोंका नहीं, वरन् पञ्जाब या संयुक्त प्रान्तका ही समझना चाहिये। और यदि दृष्टिको संकुचित करते २, एक २ नगरके आर्य्यसमाज पर ध्यान दें, तो हमें पता चलेगा कि उन नगरोंकी स्थिर प्रजाने अभी तक आर्य्यधर्मको अपने जीवनके आधारके रूपमें स्वीकार नहीं किया।

१५. प्रत्येक आर्य्यसमाजमें पुरुषार्थी पुरोहितका दैनिक सत्संगका ठीक २ प्रबन्ध करना ही इस उद्देशको पूरा कर सकता है। उसे चाहिये कि सर्व प्रकारके लोगोंको आर्य्य मन्दिरोंमें आनेकी प्रेरणा करता रहे। वहांपर प्रातःकाल सन्ध्या, प्रार्थना, अग्निहोत्र, भजन और कथाका कार्य्यक्रम हो। प्रायः एक या सवा घण्टेके अन्दर सब कुछ होजाना चाहिय। सायंकालको फिर यह कार्यक्रम दुहराया जावे। सन्ध्या-पाठ नये महाशयोंको अभ्यास करानेके लिये है। जिन्हें आनन्द आने लग जावे, वे अलग २ घरपर या मन्दिरमें कर सकते हैं। पूरा पुरुषार्थ करनेपर भी, यदि सभासद् या अन्य लोग कम आते हैं, तो डरना नहीं चाहिये।

१६. इसके साथ पुरोहित स्वाध्यायमें प्रेम पैदा करनेके

लिये लोगोंको पढ़नेके लिये प्रेरित कर सकता है। छः मास नियम-पूर्वक पुरोहितसे पढ़नेके पश्चात् बहुतसे सज्जन अपने आप स्वाध्याय करने और दूसरोंको उत्साहित करने योग्य हो सकते हैं। पुरोहितका यह प्रयत्न होना चाहिये कि संस्कार आदिके अवसरोंके सिवाय भी लोगोंसे अवश्य मिलता रहे। प्रत्येक सज्जनसे मन्दिरमें आते रहनेका अनुरोध करता रहे। शनैः २ समय आ जावेगा जब कि आर्य-जीवनका केन्द्र आर्य-मन्दिर, यज्ञ-वेदिका और तपस्वी पुरोहित बन जावेंगे। केवल उस समय आर्यधर्म मनुष्यमात्रका धर्म बननेकी शक्तिसे युक्त हो सकेगा।

१७. दैनिक सत्संगके ठीक होते रहनेसे साप्ताहिक सत्संग भी अधिक सफलतासे हो सकेगा। जो प्रतिदिन आनेके अभ्यासी हो जावेंगे, वे तो होंगे ही, परन्तु दूसरे भी अब कमसे कम आठवें दिनकी अनुपस्थितिको बहुत बुरा समझने लगेंगे। इस कार्य्यकेलिये अब विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ेगा।

१८. इस सत्संगका कार्य्यक्रम अति रोचक और गंभीर होना चाहिये। योग्यसे योग्य सज्जन कथा या उपदेश करें। प्रत्येक व्याख्याताको चाहिये कि अपने व्याख्यानके आदिमें मधुर स्वरसे मन्त्रोंको पढ़े और शास्त्रसे समर्थित करता हुआ, किसी सर्वोपकारी विषयका वर्णन करे। स्वतन्त्र निरंकुश व्याख्यान ग्रामोंमें विद्या-प्रचारके कम होनेके कारण लोगोंको समझ नहीं आते। नगरोंमें नित्य यही चर्चा रहनेसे, समाजमें भी आकर उन्हें ही सुनना लोग पसंद नहीं करते।

हां, उन्हें शास्त्र पढ़नेका अवसर कम मिलता है। इसलिये इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये। जहां अन्धविश्वास ठीक नहीं, वहां सच्ची श्रद्धाको ठुकराना भी मूर्खता है।

१९. साप्ताहिक हवनका प्रकार भी सब स्थानोंपर समान होना चाहिये। यह देखा गया है कि जहां २ पण्डित या पुरोहित होते हैं, वहां कोई नई रीति या मन्त्र जोड़ दिये जाते हैं। कर्मकाण्डकी समता न रहनेसे संगठन ढीला होता जाता है। इसलिये यह आवश्यक है, सब स्थानोंपर एक ही रीति चलायी जावे। विना प्रान्तीय सभाकी आज्ञाके उसमें भेद न किया जावे। वैदिकसन्ध्याका मिलकर पाठ करना भी अभीष्ट है। इसे कई स्थानोंपर नहीं किया जाता। यह ठीक नहीं। यह वस्तुतः सामाजिक श्रद्धाको संगठित करनेके अभिप्रायसे किया जाता है। यह इस बातका चिह्न समझना चाहिये कि हमने भिन्न २ प्रकारसे पूजा करना छोड़कर एकही प्रकारसे वेदमन्त्रों द्वारा करना आरंभ कर दिया है। एकताका भाव जातीय संगठनका मूल है।

२०. धार्मिक सत्संगकी महिमा गंभीर, मधुर, शान्त संगीत-रससे बढ़ जाती है। यह खेदकी बात है कि आर्य्यसमाजमें इधर पूरा ध्यान नहीं दिया जा रहा। भजनपुस्तकोंका संग्रह प्रत्येक स्थानपर मौजूद होना चाहिये। अच्छे २ भजन हमें स्मरण भी होने चाहियें। सत्संगमें सब मिलकर बोलें। सब स्थानोंपर भजनमण्डली बनानेका भी प्रयत्न करना चाहिये।

२१. इस सम्पूर्ण कार्य्यक्रमको दो या अढ़ाई घण्टेमें समाप्त कर लेना चाहिये। कई स्थानोंपर कार्यवाहीके अन्तमें

पात्र फेरकर पैसा२ दो२ पैसे इकट्ठे किये जाते हैं। सब स्थानोंपर इसका अनुकरण हो सकता है। अथवा भिन्न २ द्वारोंपर दानपात्र लटके रहें, जिसका जब जी चाहे डाल दिया करे।

२२. आर्तीके पीछे आर्यसभासदों और मेम्बरोंको थोड़े कालके लिये बैठकर परस्पर सुख, दुःखसे परिचित होजाना चाहिये। अपना २ मासिक दान भी कोषाध्यक्षको वहीं दे देना ठीक रहेगा। इस प्रकारसे प्रतिसप्ताह करनेसे आपसमें मेल. मिलाप बढ़कर सामाजिक विकास शीघ्र होनेकी संभावना है।

२३. इसके अतिरिक्त अमावस्या, पूर्णमासी और संक्रान्तिके अवसरपर, प्रातःकाल मन्दिरमें विशेष यज्ञ करने चाहियें और आये हुए सज्जनोंमें मोहन भोगको यज्ञके प्रसादके रूपमें बांटना चाहिये। प्रतिमास सभासदोंका साधारण अधिवेशन होना अत्यावश्यक है। उसमें मासिक कार्य्यवाही सुनाई जावे और आय व्ययका व्योरा भी पढ़ा जावे। जिनका मासिक दान न आया हो, उन्हें प्रेरणा की जावे कि आगामी रविवारके साप्ताहिक सत्संगमें लेते आवें। हर तीन मासके पीछे आर्य्यसभासदोंको अवकाशके दिन बाहिर विनोदकेलिये जाना चाहिये। वहींपर यदि खाने पीनेका प्रबन्ध किया जावे, तो बहुत अच्छा होगा। इस प्रकारसे दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और ऋतुके हिसाबसे उत्साहपूर्वक कार्य्य करते हुए, आर्य लोग वार्षिक समारोहके अधिकारी होंगे और उस अवसरपर होनेवाले सम्मेलनोंके प्रस्तावोंको कार्य्यरूपमें परिणत कर सकेंगे। इस कार्य्यक्रमपर आचरण किये विना आन्तरिक संगठन असम्भव है।

२४. उपनियमोंके अनुसार प्रतिवर्ष अधिकारियों और अन्तरङ्ग सभाका चुनाव होना चाहिये। इस बातका यत्न करना चाहिये कि जो महानुभाव सबसे श्रेष्ठ धार्मिक, नियमपूर्वक सामाजिक पुरुषार्थके करनेवाले हों, उन्हें ही सामाजिक अधिकार दिये जावें। कई स्थानोंपर साप्ताहिक उपस्थिति लिखनेका रिवाज है, यह भी लाभदायक है। जिनकी उपस्थिति साधारणतया ७० प्रतिशतकसे नीचे न रहती हो, उन्हें ही पदाधिकारी बननेके योग्य समझा जावे।

२५. इन सब सत्संगोंमें आर्यदेवियोंका सम्मिलित होना अत्यावश्यक है। आर्यधर्म कभी सार्वजनिकरूप धारण नहीं कर सकता, जब तक इसका घरोंमें प्रवेश न हो। आर्य-मन्दिरोंमें प्रायः उनके बैठनेकेलिये ऊपर गैलरीसी बनायी जाती है। इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। एक तो पहिले ही उन्हें शास्त्रीय विषयोंका ज्ञान बहुत थोड़ा होता है, दूसरा इस प्रकारसे दूर होजानेसे उन्हें सुनाई ही कुछ नहीं देता। व्याख्याताके समीप होनेसे प्रभाव अधिक पड़ता है। शोर भी थोड़ा होता है। परन्तु वर्त्तमान अवस्थामें कोलाहलके कारण, जो सुनना चाहती हैं, उन्हें भी लाभ नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि इन सत्संगोंमें स्त्रियां आना बन्द कर देती हैं। प्राचीन कालसे कथा वार्त्तामें भारतवर्षमें स्त्री पुरुष एकही स्थानपर बैठते चले आरहे हैं। न जाने, आर्यसमाजमें यह अस्वाभाविक बात कैसे आ गई है। अस्तु, अब इसका इलाज करना चाहिये। वेदीके एक ओर पुरुष बैठ सकते हैं और दूसरी ओर स्त्रियां। प्रवेश द्वार और मार्ग अलग २ किये

जा सकते हैं। और जो कठिनाई हो, उसका भी उपाय हो सकता है। परन्तु यह निश्चित सिद्धान्त समझिये कि सर्व प्रकारके नित्य तथा नैमित्तिक सत्संगोंमें पुरुषों और देवियोंका समानरूपसे सम्मिलित होना ही हमारी असली शक्ति और विस्तृतिका आधार है। जितना शीघ्र हो सके, आर्यवर्गको चाहिये कि इस त्रुटिको दूर करनेकी रीति निकालें। इसे ठीक करते ही, आर्योंकी सन्तान भी आर्यधर्ममें ही रहेगी और इस विषयमें जो आजकल कष्ट होता है, वह न रहेगा।

२६. इन सत्संगोंके साथ २ आर्यसंगठनके लिये परस्पर पारिवारिक मेल मिलापका बढ़ाना आवश्यक है। सर्वदा केवल सन्ध्या और हवनके लिये ही इकट्ठा होनेसे सामाजिक सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हो सकता। इसलिये आर्य-सभासदोंको जब मकान किरायेपर लेना हो, या अपना बनवाना हो, तो यह विचार रखना चाहिये कि आस पास आर्य लोग हों। यदि वहां कोई आर्य नहीं बसता और उसे अवश्य वहीं बसना हो, तो उसे इतना पुरुषार्थी होना चाहिये कि शीघ्र ही वहां आर्यमंडल बन जावे।

२७. आर्योंको परस्पर वैवाहिक संबंध केवल आर्यत्वके आधारपर ही करने चाहियें। वर्त्तमान जाति पातिके विचारको सर्वथा छोड़ देना आवश्यक है। इन भेदोंके पूरे तौरपर न हटनेके कारण अभी तक आर्योंका अपना संगठन बलवान् नहीं बन सका।

२८. वैदिक धर्मके अनुसार चार वर्णोंका विभाग स्वाभाविक है। यह प्रत्येक देश और समाजमें पाया जाता है। इसका जन्मके साथ इतना ही सम्बन्ध है कि साधारणतया

सन्तान माता पिताका अनुकरण करती हुई वैसी ही बनती है, पर यह आवश्यक नियम नहीं । ब्राह्मणका लड़का योद्धा बनकर, स्वदेश रक्षक हो सकता है । क्षत्रियका लड़का, त्याग-स्वभाव वेदपाठी बन सकता है । प्राचीन कालमें ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं ।

२९. परन्तु आज कल तो यह भी नहीं कहा जा सकता, कि कौन ब्राह्मण है और कौन क्षत्रिय है ? विदेशी राज्यके अधीन रह कर, पोलीस या फौजमें नौकरी करनेसे किसीको क्षत्रिय होनेका गौरव न करना चाहिये । सच्चा क्षत्रिय एक दिन भी परतन्त्र दशामें रहना पसन्द नहीं करेगा । इसी तरह किसीको इस समय ब्राह्मण होनेका भी अभिमान न करना चाहिये । सच्चे ब्राह्मणोंके होते हुए, इतना धार्मिक अन्याय कभी न होता ? वैदिक विद्याके गर्भसे न निकलनेके कारण आज सर्वत्र एक-जाति शूद्रोंका युग है । धनकी ओर प्रवृत्ति अधिक होनेसे कुछ अंश वैश्यका समझा जा सकता है ।

३०. इस अवस्थामें, आर्य सभासदोंको वर्णों और जातियोंके मिथ्या जालसे अपने आपको मुक्त करके आर्य वर्णका प्रचार करना चाहिये । वेद भगवान्ने भी मुख्यरूपसे दो ही वर्ण माने हैं, आर्य और दास । सच्चे आर्य बन कर दासोंको आर्य बनानेका प्रयत्न किया जावे । आर्य श्रेष्ठाचारी, स्वतन्त्रताप्रिय, उपकारीका नाम है । दास इसके विपरीत स्वभाव वालेको कहते हैं । आर्यसभासद् वस्तुतः आर्य बनें और सब आर्य परस्पर तुल्यताका व्यवहार करें । उनमें कोई और भेद-भाव या ऊंच नीचका विचार न पाया जाना चाहिये । इस प्रकार शनैः २ आर्यत्वकी प्रधानता होकर, वैदिक विचारोंके अनुसार आदर्श समाजकी स्थापना हो सकेगी ।

१२—आर्य्य-संस्थाएं।

१. संसारका उपकार करना आर्य समाजका नियम है। शारीरिक मानसिक, आत्मिक और सामाजिक भेदसे उपकार कई विभागोंमें बट जाता है। आरम्भसे ही आर्य-सामाजिक पुरुष भिन्न २ संस्थाओंद्वारा इस उद्देशको पूरा करनेका प्रयत्न करते रहे हैं। बाल विवाहकी प्रथा के विरुद्ध तथा व्यायाम और ब्रह्मचर्य्यकी पुष्टिमें उपदेश करके जातीय-शरीरको सुधारनेका उद्योग होता रहा है। विद्यालयोंद्वारा मानसिक विकासका प्रबन्ध किया गया है। धर्मोपदेशों तथा सत्संगोंद्वारा आत्मिक प्यासको बुझाना अभीष्ट रहा है। अनाथालयोंद्वारा तथा दलितोद्धार, शुद्धिके प्रचार और वर्त्तमान जाति पातिके खण्डनद्वारा सामाजिक समता और बलको बढ़ानेका कार्य होता रहा है।

२. इन विविध कार्य्योंमेंसे प्रायः सभीका बीज ऋषि दयानन्दके जीवन कालमें ही बोया गया था। उनकी सार्वजनिक सहानुभूतिका सर्वत्र विस्तार होता था। देशोन्नतिका कोई ऐसा विभाग नहीं, जिसे उस महामनाके मस्तकने पूर्णतया ग्रहण न किया हो। हां, विधाताने उन्हें कार्य करनेके लिये बहुत थोड़ा समय दिया। सारा खेल दस वर्षके अन्दर २ खेला गया। इतना थोड़ा समय और इतना महान् और बहुविध कार्य्य! सोचते २ बुद्धि चकित होजाती है।

३. संस्था निर्माणका विशेष उत्साह उस समय प्रकट हुआ, जब स्वामीजी महाराजके प्राणान्तके उपरान्त

उनका स्थायी स्मारक बनानेका विचार उपस्थित हुआ। उस समयके आर्यसज्जनोंने सोचा कि किसी स्तंभ, मन्दिर या भवन द्वारा महर्षि दयानन्दका स्मारक नहीं बन सकता। यह प्राकृतिक पदार्थ शनैः २ जड़ पूजाकी ओर धकेल लेजाते हैं। इससे बड़ी हानिकी संभावना है और अन्तमें महर्षिके विचारोंके आदरके स्थानपर निरादरकी आशंका है। वह सत्यके प्रकाशक थे और सदा इस बात पर बल देते थे कि सत्यका ग्रहण और असत्यका परित्याग करना चाहिये। विद्याकी तीव्र ज्योतिसे ही यह कार्य सिद्ध हो सकता है। वैदिकधर्म ज्ञानका धर्म है। विद्याका प्रचार तथा अविद्याका नाश करना आर्यमात्रका कर्त्तव्य भी है। इन सब विचारोंको सम्मुख रखकर यही निश्चित हुआ कि महर्षिकी स्मृतिमें एक महाविद्यालय खोला जावे।

४. पंजाबमें विशेषरूपसे आर्यसमाजका बल बढ़ रहा था। इसलिये यह सारा विचार, दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौरकी स्थापनाके रूपमें आकर परिणत हुआ। यह पवित्र कार्य प्रथम जून, सन १८८६ में हुआ। शनैः २ कार्यका विस्तार हुआ। बड़े २ योग्य तपस्वी और त्यागवीर आर्य सज्जनोंके पुरुषार्थका यह फल हुआ कि शीघ्र ही इस केन्द्रसंस्थाके इर्द गिर्द कितनी ही और संस्थाएं बन गईं। यह विस्तार यहां तक आ पहुंचा है कि कोई ही समाज होगा, जिसके अधीन किसी न किसी प्रकारकी संस्था न हो। दूसरे प्रान्तोंमें भी संस्थाओंका प्रचार खूब बढ़ा। इस समय भारत वर्षमें, विद्या-सम्बन्धी आर्यसंस्थाएं पांच सौ से अधिक हैं।

५. इन संस्थाओंके मुख्यरूपसे दो लक्ष्य हैं। प्राचीन सभ्यताके परिचय तथा प्रचारकेलिये संस्कृत विद्या तथा हिन्दीका प्रचार और वर्त्तमान समयोपयोगी आज कलकी विद्याका प्रचार। भाव यह है कि इन संस्थाओंके विद्यार्थी आर्यभावको धारण करते हुए, अपनी सांसारिक स्थितिको ठीक रीतिसे संभाल सकें। कार्य्यको आरम्भ करते हुए, अभी थोड़ा ही समय बीता था, कि कार्य्यकी नीतिके विषयमें भेद पैदा होने लगा। कुछ सज्जनोंने यह अनुभव किया कि कालेज द्वारा संस्कृत विद्याका प्रचार नहीं हो सकेगा और उच्चकोटिके आर्य विद्वान् पैदा न होंगे। इन विचारोंका परिणाम, शनैः २ गंगा-तटपर गुरुकुलके रूपमें उपस्थित हुआ।

६. यह कार्य आर्यपुरुषोंके उमड़ते हुए उत्साहका उदाहरण था। उनके सामने बड़ा महान लक्ष्य था। एक शब्दमें, वे प्राचीन कालको फिर वापिस लाना चाहते थे। कालेज विभागका यह भाव था कि वर्त्तमान समयका प्रभाव बड़ा विस्तृत है। पूर्व और पश्चिम एक हो रहे हैं। नाना प्रकारकी विद्याएं, कला और कौशल सब देशोंमें एक ही प्रकार से उन्नत होरहे हैं। इनसे विमुख रहनेमें निश्चित हानि है। जातियोंकी दौड़में हम पीछे होरहे हैं। हमें चाहिये कि वर्त्तमान युगके साथ समझौता करते हुए, जितना होसके, प्राचीन विद्याको साथ मिलाते हुए, वर्त्तमान प्रकाशको भी ग्रहण करलें। गुरुकुल विभागके सामने ऋषि दयानन्द प्रणीत पाठविधिका चलाना और प्राचीन ऋषियोंकी स्मृतिको नये विद्या-व्रत स्नातकोंके रूपमें पुनर्जीवित करना मुख्य लक्ष्य था। उसकी दृष्टिमें वर्त्तमान सभ्यता हीनसभ्यता थी और

इसके साथ समझौता करके किसी मध्य मार्गका अवलम्बन करना, अपनी अयोग्यताका परिचय देना था।

७. इन दोनों प्रकारके विचारोंका बड़ी तीव्रतासे प्रचार किया गया । जहां कालेजों और स्कूलोंका तांता बंध गया, वहां भिन्न २ स्थानोंपर गुरुकुल भी खुलते गये । आपसमें मुकाबला हुआ और फल यह हुआ कि कार्य की मात्रा बहुत बढ़ गई । दोनों विचारोंको तोलना अभीष्ट नहीं है । इस समय दोनोंका परिणाम हमारे सामने है। उसे देखकर, बुद्धिमान् ठीक २ निर्णय कर सकते हैं।

८. दोनों विभागोंके कार्यक्रमका विकास होता चला जारहा है। आरम्भमें कालेज और स्कूलके अन्दर अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती रही । पर शनैः २ पंजाब विश्वविद्यालयके बढ़ते हुए बोझने संस्कृत विद्यापर अधिक समय देना असंभव सा कर दिया । प्रत्येक विद्यार्थीसे यह आशा करना कि वह दोनों विद्याओंका विद्वान् हो जावेगा, ठीक न था । आज प्रत्येक विद्याका इतना विकास होरहा है, कि यदि एक विषय भी ठीक आजावे, तो बड़ी बात है इस अनुभवका परिणाम यह हुआ कि कालेज विभागने पृथक् संस्कृत विभागका निर्माण किया। इसी प्रकार आयुर्वेदकी शिक्षाका प्रबन्ध किया गया। हिन्दु युवकोंकी आजीविकाके प्रश्नको हल करनेकेलिये, शिल्पविद्यालयका आयोजन किया गया है। यह समग्र विस्तार यहांकी परिस्थितिका स्वाभाविक विस्तार है । इस समय यह अवस्था है कि कालेज विभागके पास आधुनिक विद्याओं तथा संस्कृत विद्याओंके सिखानेका, पुराने शास्त्रोंके शुद्ध पाठ

निश्चित करके अनुसन्धान करनेका, अच्छे वैद्य तथा कारीगर बनानेका उचित प्रबन्ध है। यह सारे कार्य अलग २ विद्यालयों और विभागोंके रूपमें नित्य नया विकास प्राप्त कर रहे हैं।

९. गुरुकुल विभाग भी समयकी स्थितिसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। पुराना आदर्श पूरा हो सका है या नहीं, इस विषयमें सम्मति दिये बिना यह कहा जा सकता है, कि प्रत्येक विद्यार्थीसे ऋषि मुनि बननेकी आशा पूरी नहीं होसकी। इसमें किसीका अपराध नहीं। समयका प्रभाव भी अवश्य होता है। गुरुकुल विभागमें भी शनैः २ आर्य्यपुरुषोंको आज कलकी विद्याओंका कुच्छ २ प्रबन्ध करना पड़ा। सरकारी विश्वविद्यालयोंकी तरह पूरा २ प्रबन्ध तो कठिन था, पर जो कुच्छ इधर विस्तार हुआ, उतनी ही मात्रामें संस्कृत विद्यामें कमी आई। यह आश्चर्यकी बात है कि इस समय दोनों विभागोंके पास प्रायः एक जैसीसंस्थाएं हैं। कालेजविभागके लिये ब्राह्ममहाविद्यालयोंकी स्थापना स्वाभाविक थी। गुरुकुलविभागकेलिये इसी प्रकारकी गुरुकुलसे भिन्न संस्थाओंका खोलना, वेदविद्याके विद्वान्, आर्योपदेशक तय्यार करनेमें गुरुकुलोंकी अपर्याप्तिका चिह्न है। कुछ ही हो, इस समय दोनोंका कार्य एक ही पड़ावपर आ ठहरा है और अब विद्या-प्रचारके विषयमें नीतिका तनिकभी भेद नहीं रहा।

१०. प्रश्न प्रबन्धका है। कालेजविभागकी संस्थाएं प्रायः स्थानिक या प्रान्तिक प्रबन्धकसभाओंके अधीन हैं। गुरुकुल-विभागकी संस्थाएं प्रायः आर्यप्रतिनिधि सभाओं या स्थानीय

आर्यसमाजोंके अधीन ह। दोनों प्रकारसे प्रबन्ध ठीक चल रहा है। इस बातका पूरा प्रयत्न किया जाता है कि यह संस्थाएं आर्यभावके विस्तार करनेवाली हों। इसकी सफलता इस बातपर निर्भर होगी कि कार्यकर्त्ताओं और अध्यापकोंके अन्दर स्वयं आर्यभाव कितना है ?

११. कई लोगोंका यह विचार है कि आर्यसमाजकी सारी शक्ति इन संस्थाओंकेलिये धन इकट्ठा करने और प्रबन्ध करनेमें ही खप जाती है। आर्यधर्मके प्रचारके लिये कोई समय नहीं रहता। इस बातमें आधी सच्चाई है। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार ही काम करता है। जो लोग शिक्षाके कार्यमें लग रहे हैं, उन्हें उसे ठीक करते रहना चाहिये। उनको आर्य-भावको पूर्णतया धारण करके, संस्थाओंको आर्य रंगमें रंगनेका यत्न करना चाहिये। इनके अतिरिक्त दूसरे सज्जन ऐसे भी चाहियें, जिन्हें और उपयोगी कार्योंमें अधिक उत्साह हो। संस्थाओंको बन्द करनेसे धर्मप्रचारका कार्य बढ़ेगा नहीं, हां, कम हो जावेगा।

१२. आज विशेषता सम्पादन करनेका युग है। सर्वत्र आर्यसमाजमें भिन्न २ प्रकारकी संस्थाओंसे लाभ उठानेवाले, आर्यपुरुषोंकी आवश्यकता है। उपदेशका काम पवित्र है, दलितोद्धारका उससे कम नहीं। विद्याका प्रचार जातीय उन्नतिके लिये आवश्यक है। स्त्रीपूजा भावी वृद्धिकी सूचना है। अनाथ रक्षा सामाजिक जीवनका धर्म है। शुद्धि और संगठन बिगड़ी दशाका सुधारना है। कौनसा कार्य है, जो आर्यसमाजने व्यर्थ अपने ऊपर ले रखा है ? प्रत्येक कार्य्यकी उत्तमताके

लिये विस्तृत तथा सुप्रबन्धित संस्थाओंकी आवश्यकता है। यह इतना विशाल कार्यक्रम है, कि जब तक प्रत्येक आर्यसभासद् अपने ऊपर कुछ न कुछ सामाजिक भार विशेषरूपसे न ले, तब तक ठीक २ निर्वाह होना असंभव है। सार यह है कि कार्य अधिक है और करने वाले थोड़े हैं।

१३. आर्यसमाजने विद्याप्रचारका कार्य मुख्यरूपसे पहिले हाथमें लिया था। उस समय कार्यकर्त्ता भी विशेष उत्साही थे। इसलिये विद्या-संबन्धी संस्थाएं सर्वत्र दूसरे कार्योंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा सुप्रबन्धित हो चुकी हैं। बहुतसे अच्छे २ कार्यकर्त्ताओंको भी इसी ओर अधिक ध्यान देनेका अभ्यास हो चुका है। शनैः २ देशकी राजनैतिक और सामाजिक स्थितिमें भेद आता जा रहा है। इसके साथ ही नये २ कार्यक्रम सामने आते हैं। लोग चाहते हैं कि उन्हें किया जावे। पुराने संस्थाओंके संचालक उनका साथ पूरी तरह न देते हैं और न हीं दे सकते हैं। चिरकालका अभ्यास स्वभावका रूप धारण कर चुका है। नूतन उत्साही सज्जन इस बातको भूलकर, कई बड़े बेढब समालोचक बन जाते हैं।

१४. इससे कई गुणा अधिक उपयोगी कार्य यह होगा कि वे सभासद्, जिनके सिरोंपर आर्यसमाज की पुरानी संस्थाओंका बोझ नहीं है, व्यर्थ समालोचनामें समय व्यतीत न करें और नये कार्योंके लिये संगठित होकर, उन्हें चलाना आरम्भ कर दें। नये उत्साहके साथ कई नये साधन उपस्थित होंगे। योग्य नेता भी समयानुसार मिलते रहते हैं। पहिली संस्थाओंको

गिरा कर, नया भवन बनानेकी आवश्यकता नहीं । उनका भवन अभी अच्छा काम दे रहा है । उसके साथ ही नये भवन खड़े करने चाहियें ।

१५. पुरानी संस्थाओंके संचालकोंको भी उचित है कि नये समालोचकोंकी बातोंको ध्यानसे सुना करें । नई आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये, अपनी संस्थाओंके अन्दर नये जीवनका संचार करें । विद्यार्थियोंको योग्य अध्यापकों तथा प्रबन्धकोंद्वारा सदा ऐसी प्रेरणा होती रहनी चाहिये और उनका जीवन ऐसा ढलता जाना चाहिये, कि वे बड़े होकर, आर्यसमाजके भिन्न २ कार्योंमें योग्यता-पूर्वक कंधा दे सकें । उनमें से सैकड़ों तपस्वी प्रचारक बनें और सहस्रों प्रबन्धादिमें सहायता देने वाले बनें । उन्हें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि भावी जाति उनके हाथोंमें से होकर निकल रही है । यदि वे उसे केवल थोड़ी सी विद्या पढ़ा कर भेज देंगे और आर्यत्वके रंगमें न रंग सकेंगे, तो सच मुच, आर्यसमाजके भावी संचालन और विस्तारको निर्बल करेंगे । वर्त्तमान आर्यसमाजका इन संस्थाओंमें खपना सफल होगा, यदि इनके विद्यार्थी आनेवाले दिनोंमें आर्यविचारोंमें रंगे हुए, आर्यसमाजके स्तंभ बनकर सर्वत्र इसका विस्तार करने वाले होंगे ।

—*:०:*—

१३—आर्य्य-साहित्य ।

१. हृदयके भावोंका प्रकाश जिन उपायोंद्वारा मानव-समाजमें होता है, उनमें साहित्य का बड़ा ऊंचा स्थान है। शेष साधनाका प्रभाव-क्षेत्र परिमित तथा संकुचित होता है । उत्तम साहित्य देश और कालके बन्धनसे ऊपर उठने का प्रयत्न करता रहता है । काल बड़ा बली है । इसके आक्रमणसे कौन छुटकारा पासकता है । बड़े २ राजा, महाराजा तथा शक्ति-शाली लोग इस की लपेटमें आते चले जाते हैं । जिस पृथिवीपर आज हम चल रहे हैं, कौन कह सकता है, वहां हमसे पूर्व कितने लोग चल चुके हैं ? वे भी शायद् हमारी तरह पृथिवीको अपना ही समझते होंगे, पर कितने आश्चर्य की बात है कि वेद, उपनिषद्, रामायणादि उत्तम साहित्य समयसे अप्रभावित अपनी प्रथम शोभाको धारण किये हुए है।

२. धर्म हृदयके विकासका रस है। धर्म का प्रचार हृदयके इस रस का बहाना है । व्याख्यानों और कथाओंमें बड़ा गौरव होता है, पर शान्तरससे युक्त, धार्मिक साहित्य का निराला ही आनन्द है । फिर इसका विस्तार जितना चाहो, करलो। सब मतों और सम्प्रदायोंने लेखनीकी शक्ति का लोहा माना है । आज उनकी धर्मपुस्तकें संसारके कोने २ में पढ़ी जाती हैं। कौनसी भाषा है, जिसमें ईसाई लोगोंने अपने पवित्र ग्रन्थका उलथा न कर रखा हो । इसी प्रकार दूसरे लोग भी प्रयत्न कर रहे हैं ।

३. आर्यसमाजका सन्देश एक प्रदेश या प्रान्तकेलिये अभिप्रेत नहीं है । इसका मनुष्यमात्रसे सम्बन्ध है और सारा इसका प्रभाव-क्षेत्र है। ऋषि दयानन्दजीने इस साधनको भली भान्ति समझकर प्रयुक्त किया था। उन्होंने यह सोचा कि अब वेद भगवान्‌को लोग उसकी अपनी भाषामें न समझ सकेंगे, वेदभाष्यका काम अपने ऊपर लिया और जहांतक विधाताने उन्हें समय दिया, वे इस कार्यको करते रहे। उन्होंने अपने विचारोंको अखिल भारतीय बनानेकेलिये, हिन्दीको ही आर्यभाषा बनाया। उनके उज्ज्वल मस्तिष्कका इससे परिचय मिलता है कि उन्होंने इस भाषाकी महिमाको और आगे प्राप्त होने वाली विभूतिको सबसे पहिले समझा। यह उनकी उदारताका प्रमाण है कि उन्होंने अपनी जन्म-भाषाको इसपर न्योछावर किया।

४. स्वामीजीके पीछे, वैदिक यन्त्रालयद्वारा उनके ग्रन्थ छपते रहते हैं। आर्यसमाजमें कई अच्छे २ विद्वान् होते रहे हैं, जिन्होंने अपनी साहित्यक शक्तिको अपने धर्मकी सेवामें प्रयुक्त किया है। इस साहित्यके प्रधानविभाग दो हैं । वेदादि शास्त्रोंके अनुवाद तथा संग्रह आदि और प्रचारार्थ खण्डन, मण्डनके ट्रैक्ट। प्रथम विभागमें, वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता तथा मनुस्मृतिके अनुवाद हैं। दूसरे प्रकारके साहित्यमें अन्य मतोंके खण्डनात्मक तथा कुच्छ सिद्धान्तविषयोंके मण्डनात्मक ग्रन्थ हैं। अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी तथा उर्दूमें हैं। अंग्रेज़ी या और दूसरी भाषाओंमें नाम-मात्र कार्य किया गया है।

५. आर्यसमाजके विद्वानोंने इस कार्यद्वारा बड़ा उपकार किया है। हज़ारों लोगोंने इन्हीं पुस्तकोंकी सहायतासे वेद तथा अन्य शास्त्रोंकी शिक्षासे परिचय प्राप्त किया है। रामायण, महाभारत, गीता तथा मनुस्मृतिके अनुवादोंका अधिक प्रचार हुआ है। शान्तिके प्रेमियोंने उपनिषदोंके अनुवादोंसे भी लाभ उठाया है। खण्डन, मण्डनके ग्रन्थोंद्वारा अनेक लोगोंकी तर्क-शक्ति बढ़ी है और कई दार्शनिक विषयोंका उन्हें अभ्यास हुआ है।

६. बहुत सा साहित्य व्यक्तिगत रूपसे लोगोंने प्रकाशित किया है। सभाओं या संगठित साहित्य-सदनों द्वारा बहुत ही थोड़े ग्रन्थ छपे हैं। व्यक्तिके सामने समुदायकी अपेक्षा अपने लाभका विचार अधिक बलवान् होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कई विद्वानोंने अलग २ काम करते हुए भी, एक २ कार्य किया है। जब रामायण का एक अनुवाद हो चुका है, तो दूसरे अनुवाद की क्या आवश्यकता है? सरल संस्कृतके अनुवादमें बहुत मतभेदकी गुंजायश भी नहीं है, पर आर्यसमाजी विद्वानोंने प्रत्येक पुस्तकपर अपना २ अनुवाद करना ही अच्छा समझा है। क्या अच्छा होता, यदि इन महानुभावोंके पुरुषार्थसे कार्यकी मात्रा अधिक हो जाती और व्यर्थ पुनरुक्ति न होती!

७. जहां तक अनुवाद करनेका सम्बन्ध है, आर्यसमाजका पहिला काम वेदोंका अनुवाद कराकर, प्रकाशित करना था। जब वेदोंको ही परम प्रमाण माना जाता है और शेष सब शास्त्रोंको उनके अनुकूल अंशमें ही ठीक समझा

जाता है, तो क्या अच्छा होता, यदि सबसे प्रथम स्वामीजीके भाष्यको पूरा किया जाता। कितने अचंभेकी बात है, जिन पुस्तकोंको पूरा २ हम मानते ही नहीं उनके ऊपर इतना समय और बल लगाया गया है। कई सज्जनोंने तो प्रत्येक प्रतिकूल बातको प्रक्षेप सिद्ध करनेपर ही सारा बल लगा दिया है। उन्होंने मनुष्य-बुद्धिके भेद तथा भ्रमका विचार ही नहीं किया। क्योंकि लिखनेवाले सब ऋषि थे, और ऋषि निर्भ्रान्त होते हैं, इसलिये सब आर्ष वाक्य एक ही प्रकारका होना चाहिये। शायद अबतक इन लोगोंको अपनी भूलका परिचय होचुका हो।

८, वेदोंपर बहुत कम लिखा गया है। जनतामें भी वेदोंके स्वाध्यायका प्रचार बहुत थोड़ा है। कई लोगोंका यह विचार है कि उन्हें उनकी योग्यतासे अधिक महत्त्व मिल चुका है। जातीय संगठनके भावको आगे रख कर, उनके नामका डंका बजाते रहना चाहिये। अनुवाद होजानेसे लोगोंको उनकी साधारण बातोंका पता चल कर, उनमें विश्वास करना कठिन होगा। कुच्छ ऐसे विद्वान् हैं, जो वेदोंकी शिक्षाके गौरवको तो मानते हैं, पर भाष्यकी शैलीके विषयमें अभी तक संदेह में है।

९. कारण चाहे कुच्छ हो, परिणाम हमारे सामने है। वेदोंपर किसी निश्चित नीतिके अनुसार साहित्य-प्रकाशनका प्रबन्ध नहीं हुआ। निःसार या अल्पसार वस्तुके नामपर जातियोंको सदा उकसाते रहना ठीक न होगा। इसकी अपेक्षा यह अच्छा होगा कि भावी भारतीय सभ्यताका आधार

वेद न रहें और उनके स्थानपर और कुच्छ हो जावे। अपने अन्दर कुच्छ होना और बाहिर किसी मन्तव्यकी आराधना करते हुए, कुच्छ कहना धार्मिक कार्योंमें शोभा नहीं देता।

१०. भाष्य-शैलीका निश्चय एक व्यक्ति नहीं कर सकता। इसकेलिये सामुदायिक पुरुषार्थकी आवश्यकता है, पर आश्चर्य यह है कि आर्य विद्वानोंने भी पर्याप्तरूपसे कभी इस बातके आयोजनका उद्यम नहीं किया। यह रहस्य इस प्रकारका है, जिसका परिचय सर्वसाधारणको हो ही नहीं सकता। केवल वेदशास्त्रके अभ्यासियोंकी यह कठिनाई है। उनका ही कर्त्तव्य था, है और होगा कि वे स्वयं अभीष्ट संगठनका प्रबन्ध करके वेदोद्धारका मार्ग निकालें।

११. इस ओर इतनी उपेक्षा है कि हवनपुस्तक तक भी पूरी तरह शोधकर नहीं छपवाये जाते। स्वामीजीके भाष्यमें बीसियों स्थानोंपर कई २ शब्द उड़े हुए हैं। वैदिक अर्थोंके समन्वयका तो अभी कोई प्रयत्न हुआ ही नहीं। जो कुच्छ अर्थ किये गये हैं, वे भी आपा-धापीसे पूर्ण हैं। अब अधिक विलंब न करके, आर्योंको अपने मूल पुस्तकोंको उचित प्रकारसे छपवाने तथा सर्बसाधारणतक पहुंचानेका प्रबन्ध करना चाहिये।

१२. स्वतन्त्र साहित्य बहुत कम लिखा गया है। दार्शनिक सिद्धान्तों तथा वैदिक उच्च विचारोंको विस्तृत करनेकेलिये केवल अनुवादोंसे काम नहीं चल सकता। भिन्न २ प्रकारकी रचनाओंद्वारा विचारोंका प्रचार करना चाहिये। उच्च कक्षाके समन्वय-ग्रन्थों तथा प्रकरण-ग्रन्थोंकी आवश्यकता

है, जिनमें पूर्ण विद्वत्तासे एक २ विषयको लेकर खोला जावे तथा दूसरे लोगोंके विचारोंके मुकाबलेमें पेश किया जावे। कथाओं, काव्यों, उपन्यासों और नाटकों द्वारा आर्य विचारोंका विस्तार हो सकता है।

१३. अंग्रेजी भाषा तथा संसारकी अन्य भाषाओंमें आर्यसाहित्य न होनेके समान है। आर्यसमाजमें अंग्रेज़ीके विद्वान् कुच्छ तो हैं और बहुतसे तय्यार हो सकते हैं, पर केवल अंग्रेज़ीकी योग्यतासे काम नहीं बन सकता। पहिले लेखकके अन्दर अपने विषयका पूरा चित्र हो और उसके प्रति उत्साह तथा श्रद्धाका भाव हो। ऐसा होनेसे ही लेखनीमें बल और ओजका प्रकाश होता है। शब्दोंमें चुम्बक शक्ति प्रकट होती है। पढ़ने वालेका चित्त स्वयमेव लेखकके तात्पर्यकी ओर प्रेरित होता जाता है। इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि संस्कृत तथा अंग्रेज़ी आदिके विद्वान्, इन साधनोंसे युक्त होकर, उक्त प्रकारसे धर्म-सेवामें लगें।

१४. त्रुटियोंका दिग्दर्शन आवश्यकताको बतलानेके लिये ही होता है। केवल न्यूनताओंका ही विचार करते रहनेसे मानसिक निर्बलता पैदा होती है। इसलिये साहित्यको प्रचारका उत्तम साधन समझकर, उसकेलिये सुसंगठित साहित्य-विभागका प्रबन्ध होना चाहिये। आर्यसमाजके केन्द्र स्थानोंमें योग्यसे योग्य व्यक्तियोंको बिठाया जावे। वे संकल्प करें कि हम अपने जीवनकी पवित्रताद्वारा, अपने लेखको बलवान् तथा प्रभावशाली बनाकर, उत्तम साहित्य तय्यार करेंगे। बड़ा भारी आर्यमिशनप्रेस स्थापित किया जावे। भिन्न २ विषयोंके

बीसियों विद्वान् विविध प्रकारकी रचनाओंमें लगे हों। पत्रिकाएं और समाचारपत्र तथा अन्य अनेक प्रकारके सूचना-पत्रोंके प्रकाशनका प्रबन्ध हो। वेदोंका प्रत्येक भाषामें अनुवाद हो जावे। दूसरे शास्त्रोंके भी उपयोगी अंशका प्रचार हो।

१५. आर्य पुरुषोंने अब तक सामाजिक हितके बड़े २ कार्योंको हाथमें लेकर अच्छी तरह चलाकर दिखाया है। इन कामोंको दूसरे भाई अनुकरण कर रहे हैं। यह अच्छा है, क्योंकि ऐसा होनेसे, आर्यसमाजको आगे उन कार्योंमें बहुत परिश्रम करनेकी आवश्यकता न रहेगी। वैदिक साहित्यके उद्धारका स्वप्न अभी तक आर्य पुरुषोंके ही हृदयमें है। इसलिये अब उन्हें इधर विशेष ध्यान देना चाहिये। इस कार्यकेलिये धनाढ्योंको धनसे, उद्यमी पुरुषार्थी लोगोंको तनसे तथा तपस्वी, त्यागी, योग्य पुरुषोंको मन और मस्तकके उज्यारेसे इस कार्यको आगे बढ़ाना चाहिये। यही एक सूत्र है, जो सब देशोंके आर्यहृदयोंको एक मालाके मनके बना सकता है। वर्त्तमान समयका यह सबसे बड़ा बल है। आर्यपुरुषोंको इसकी सम्पत्तिकेलिये सबसे आगे बढ़ना चाहिये।

——:o:——

१४—आर्य-ग्रामिक।

१. आर्य्यावर्त्त कृषिप्रधान होनेके कारण ग्राम प्रधान देश है। करोड़ों नरनारी पृथिवीकी आराधना करते हुए, ग्रामोंमें ही पैदा होते, वहीं बढ़ते, कार्य करते और वहीं प्राण छोड़ देते हैं। अभी करोड़ों ऐसे लोग होंगे, जिन्होंने

न रेलकी सवारी की होगी और न कभी तारघर या डाकघरका लाभ उठाया होगा। उन्हें नगरोंके खेल और तमाशोंका कोई ज्ञान नहीं। उनमेंसे कोई २ शुभ अवसर पाकर कुच्छ पढ़ लिख जाता है। पढ़े लिखे ग्राम-वासी प्रायः ग्रामीण रहना पसन्द नहीं करते। वे सर्वथा नागरिक होना चाहते हैं। वे शनैः २ नगरोंमें ही बस जाते हैं और पुराने ग्रामीण साथियों और सम्बन्धियोंसे अलग होजाते हैं।

२. ग्रामीण लोगोंमें विद्याका बहुत कम प्रचार है। इसका परिणाम यह है कि भारतवासी छः सात प्रतिशतकसे अधिक अपना नाम तक किसी लिपिमें लिखने वाले नहीं मिलते। जहां यह बात भारतवर्षके अन्दर विद्याप्रचारकी मात्राका परिचय देती है, वहां यह भी स्पष्ट करती है कि नगरोंकी अपेक्षा कितनी अधिक जनता ग्रामोंमें पड़ी है। नगरोंमें सरकारकी ओरसे तथा सार्वजनिक संस्थाओंकी ओरसे चिरकालसे विद्याके प्रबन्ध चल रहा है। ग्रामोंमें अब कुछ होने लगा है। अभी इस प्रबन्धका परिणाम बहुत कम है। प्रायः ग्रामीण जनता बेसुध पड़ी है।

३. जहां साधारण व्यावहारिक विद्याका भी प्रचार न हो, वहां स्वास्थ्य विद्या तथा कृषि विद्याको लोग क्या समझते हैं? जो हल आजसे दस हज़ार वर्ष पूर्व चलता था; वही आज भी किसानके गौरवका लक्ष्य बना हुआ है। प्रभुने भारतजननीको बहुत उर्वरा बनाया है। थोड़ा बहुत परिश्रम करनेसे वह पर्याप्त फल देदेती है। पर जहां वृष्टि कम होती है, या जिस वर्ष नहीं होती और नहरें भी नहीं चलतीं, वहां कृषिकी

अवस्था बड़ी शोचनीय हो जाती है। लगे हुए फ़सलको कोई बीमारी लग जाती है। कभी टिड्डी दल न जाने कहांसे आजाता है। कभी और कुच्छ होजाता है। परिणाम यह होता है कि इस सुवर्ण भूमिके किसी न किसी भागपर दुर्भिक्ष पड़ा ही रहता है।

४. दुष्कालकी अरदलमें पशुओं और मनुष्योंको दबोचनेके लिये नाना प्रकारकी महामारियां आ घेरती हैं। जहां नित्य शुद्ध वायुका संचार रहना चाहिये, वहां सांस लेनेको जी नहीं करता। साधारण अवस्थामें यदि वहां कुच्छ स्वास्थ्य अच्छा रहता है, तो यह खुले स्थान और थोड़ी आबादीका फल है। लोगोंका रहन सहन तो अत्यन्त ख़राब होता है। इसमें उनका अपराध ही क्या है? जैसे रिवाज चला आता है, वे वैसे ही रहना जानते हैं। विद्याका प्रचार न होनेसे, वे न स्वास्थ्यकी रक्षा कर सकते हैं, न अपने पशु आदिकी संकटावस्थामें रक्षा कर सकते हैं। अच्छी कृषिके वैज्ञानिक नियमोंका उन्हें परिचय नहीं। जो तरंगें राजनीतिक वायुमण्डलमें चलती हैं, उनका उन्हें बहुत कम पता चलता है।

५. देशका नेतृवर्ग शहरोंमें सभाएं और सम्मेलन रचाकर शायद समझता है कि सारी जनता हमारी बातको समझ गई है। यह उनका मिथ्या विश्वास होता है। समय पड़नेपर झट पता लग जाता है। नेताओंको अनुयायी नहीं मिलते। सारा कार्यक्रम धरा रह जाता है।

६. बात बड़ी सरल है। नगरोंमें रहनेवाले लोगोंके जीवन देश, विदेशके विचित्र गोरखधंधेमें जकड़े हुए होते हैं। असहयोगका प्रश्न हो या और किसी प्रकारके त्यागका अवसर

हो, व्याख्यान सुनकर तो यह भड़क उठते हैं, पर जब घरपर आकर, अपनी आजीविकाके प्रश्नको सोचते हैं, तो रह जाते हैं। उनका मस्तक आवश्यकताको भांप लेता है, पर हृदय साथ नहीं देता। यही कारण है, जिससे नागरिक जनता का दो प्रकारका जीवन होजाता है। हाथीके दिखाने और खानेके भिन्न २ दान्तोंकी तरह, इनके विचार और आचारमें पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है।

७. ग्रामीण जनताका जीवन सरल, स्वतन्त्र तथा परिमित सा होता है। उनकेलिये चाहना और सकना अलग २ नहीं होते। जो बात उन्हें जच जाती है, उसके करनेकेलिये फिर उन्हें उकसानेकी आवश्यकता नहीं होती। उनमें अनुपयुक्त बल मौजूद रहता है। उनका शुद्ध चरित्र अविकसित पुष्पके समान होता है। ज्योंही सूर्योदयके साथ किरणोंका संपर्क होता है, पुष्प खिल जाता है। इन लोगोंके ऊपर ज्ञानका प्रभाव डालनेकी ही देर है। इनके विकासमें कोई सन्देह नहीं। इनमें दम्भ, धोखा, पाखण्ड थोड़ा होता है। यही स्थिर आधार है, जिसपर उत्तम चरित्रका विशाल भवन खड़ा किया जा सकता है।

८. इन बातोंसे तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक सार्वजनिक कार्यका आरम्भ ग्रामसे होना चाहिये। जो भाव और रीति ग्रामीण जनताके जीवनका अंश बन जावेगी, वह चिरस्थायी हो जायगी। समयका परिवर्तन नगरोंके जीवनमें अधिक प्रभाव पैदा करता है। राज्य बदल जाते हैं। बड़े २ प्रसिद्ध घराने नष्ट होजाते हैं। साधारण लोग ऊपर उठ आते हैं। सब कुछ होजाता है, पर ग्राम-जीवन बहुत कम बदलता है।

९. भारतवर्षकी दशा बड़ी विचित्र है । इसका शासन दूसरोंके हाथमें है । इसकी जनताका परस्पर संगठन नहीं । यहां आर्थिक उन्नतिक उपायोंका ठीक २ अवलम्बन नहीं हो रहा । सब दोषोंका एकही इलाज है और वह जनतकी बीमारीको समझकर उसे हटानेका संगठित पुरुषार्थ करना । यह कार्य नगरोंमें आरम्भ होकर, कभी सफल नहीं हो सकता । इसका केन्द्र ग्राम ही बन सकते हैं । सर्व प्रकारकी सामाजिक तथा राजनीतिक सम्पत्ति और उन्नतिका विस्तार तब होगा, जब ग्रामीण जनता इन बातोंको समझकर, अपने जीवनमें कुच्छ परिवर्त्तन पैदा करेगी ।

१०. यह कैसे हो ? पढ़े लिखे लोग नगरोंमें रहना चाहते हैं । ग्रामोंमें जाकर जीवन व्यतीत करना, सदा जनताके साथ सरलतासे व्यवहार करना, उनके सब कार्योंमें रुचिपूर्वक सम्मिलित होकर अपने विचारोंके प्रति उनके हृदयमें सहानुभूतिको जागृत करना आसान काम नहीं है । नागरिक उन्नतिकी अभिलाषाको देखकर, नाना प्रकारके साहित्यक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक आनन्दोंपर लात मारकर, दूर अलग २ ग्रामोंमें जाकर निवास करना और वहां अपना सामाजिक चक्र स्थापित करना बहुत कम लोगोंमें उत्साह पैदा करता है ।

११. पर मार्ग तो और कोई है ही नहीं । आर्यसमाजका संदेश अभी शहरोंतक भी पूरा नहीं पहुंचा । सार्वभौम प्रचारके लिये पूर्वोक्त प्रकारसे ग्राम-प्रचारका प्रबन्ध अत्यावश्यक है । ग्राम-जनतामें जब आर्य विचार धर्मके रूपमें जड़ पकड़ जावेंगे, तो देशका सर्व प्रकारका कल्याण स्वयमेव होजावेगा ।

कोई सच्चा आर्य दीनताके जीवनको पसन्द नहीं करेगा। ज्योंही जातीय अन्तरात्माने दीनता और परतन्त्रताके विरुद्ध अनुभव करना आरम्भ किया, त्योंही यह रोग नष्ट होजावेंगे।

१२. इस कार्यको सम्पादन करने वाले आर्यग्रामिकोंकी संस्था बनाकर, आर्यसमाजके नेताओंको यह कार्य हाथमें लेना चाहिये। आर्यग्रामिककी शिक्षा पूरी होनी चाहिये। ग्रामीण जीवनके भिन्न २ अंगोंसे वह भली भान्ति परिचित हो। आत्मिक आनन्दकेलिये जहां उसने वेद शास्त्रका अभ्यास किया हो, वहां उसे चाहिये कि वह सामान्यरीतिसे आयुर्वेदका ज्ञान भी प्राप्त करे। सामाजिक संगठनके नियमोंको वह समझता हो। अर्थशास्त्रके ग्रामीण-भागका उसने अभ्यास किया हो। पंचायत-रचनाका उसे बोध हो। इन गुणोंके अतिरिक्त वह अच्छे, मधुर स्वभावका धनी हो। उसकी चिड़चिड़ी वृत्ति न हो। उदारबुद्धि तथा मेल मिलाप रखनेवाला हो। जोड़ फोड़से परे रहना जानता हो। छोटे बच्चोंसे प्रेम करना जानता हो।

१३. आर्य-युवक मण्डलका ध्यान इधर आकर्षित होना चाहिये। जिनकी आयु बीस इक्कीस वर्षकी हो और इस परमावश्यक जातीय सेवामें रुचि हो, उन्हें तीन चार वर्षमें विशेष प्रकारसे तय्यार किया जा सकता है। इस शिक्षण-कालमें उन्होंने कई प्रकारका अभ्यास करना है। इस कार्यके लिये आर्यसमाजकी केन्द्र-संस्थाओंमें भली भान्ति प्रबन्ध हो सकता है। प्रतिष्ठित आर्यसभासदोंको चाहिये कि इस प्रकारके त्यागी युवकोंको पूर्ण सहायता देकर उत्साहित करें।

१४. दस २ कोसके चक्र बनाकर, मध्य-वर्ती स्थानोंको उन चक्रोंका केन्द्र बनाया जावे । तय्यार हुए २ आर्यग्रामिकोंको उन केन्द्रोंमें प्रतिष्ठितकर दिया जावे । प्रत्येक केन्द्र अपने चक्रके लिये जीवनका स्रोत बन सकता है । वहांपर लड़कों और लड़कियोंकी पाठशाला खोलकर, चक्रके अन्दर जितने ग्राम हैं, उनकी भावी प्रजाको साक्षर बनाया जावे । वहांपर आयुर्वैदिक औषधोंका छोटासा भण्डार हो । रोगियोंका इलाज विना शुल्कके किया जावे । जिसका जो दिल करे, श्रद्धापूर्वक दान दे जावे, परन्तु अवश्य कुच्छ देनेके लिये किसीको बाधित न किया जावे ।

१५. शान्ति और प्रेमके साथ आर्यग्रामिकको जनताके दिलोंमें घुसना चाहिये । एक दिनमें कोई कार्य सिद्ध नहीं हुआ करता । एक कार्य जितना महान् होता है, उतने ही अधिक उसकी सिद्धिमें बाधक खड़े होते हैं । कई वार उसके कार्यको दूषित करने वाले, झगड़ालु लोग उसका विरोध करेंगे । कई वार उसपर मिथ्या आक्षेप किये जावेंगे । कई वार उसके मार्गमें प्रलोभन आवेंगे । कई वार उसका मन नागरिक आनन्दोंकेलिये तृषातुर हो उठेगा । यह सब कुच्छ होगा, पर सच्चा आर्यग्रामिक पहिलेसे ही इनपर विजय प्राप्त करनेकेलिये तय्यार होगा ।

१६. उसे चाहिये कि सबके साथ समान प्रीतिसे व्यवहार करे । जब किसी झगड़ेमें दो पक्ष खड़े हों, तो उसे चाहिये कि वह बच कर रहे । अग्निमें कूदकर झुलसनेसे उनके कार्यमें विघ्न पड़ेगा । जितने उस चक्रमें ग्राम हों, उनमें

क्रमसे प्रचार तथा दर्शनार्थ जाया करे। आर्यसंस्कारोंका प्रचार करें। वेद शास्त्रकी सरल कथाओंसे जनताके चित्तको प्रभावित तथा उन्नत करे। देशमें जो कुच्छ हो रहा हो, उसके आवश्यक तथा स्वास्थ्य-वर्धक सारसे लोगोंको परिचित रखे।

१७. शनैः २ विद्याका प्रचार बढ़ेगा। स्वास्थ्यके नियमोंसे परिचित होकर, लोग शुद्ध रहना सीखेंगे। ग्राम-जीवन वास्तव आनन्दसे युक्त होने लगेगा। आर्य-ग्रामिकके अनुभवसे उन्हें अपनी आर्थिक स्थितिको ठीक करनेका भी ज्ञान होगा। उस समय प्राचीन रिवाजके अनुसार पंचायतें बन सकती हैं। कचहरियोंमें धक्के खाते हुए ग्रामीण लोगोंकी संख्या कम हो सकती है। उनका परस्पर विश्वास बढ़कर, जातीय हितके कार्योंमे पूर्ण सहयोग संभव होगा। बुद्धिमान् नेता जिस ओर देशको लेजाना चाहेंगे, उधर वस्तुतः देश चलने लगेगा। आज कलके आन्दोलन तेलकी तरह ऊपर २ चुपड़े जाते हैं। घृतके खानेकी तरह अन्दरसे पुष्टि होगी। आज एक कानमें शब्द पड़ता है और दूसरेसे निकल जाता है। फिर जनताका हृदय ग्रहण करेगा। आज नेताओंका कानोंपर शासन है, फिर वे हृदयके स्वामी होंगे।

१८. आर्य-ग्रामिकका बड़ा महान् उद्देश्य है। वह अपनी प्रजाको योग्य गुरुओंके उपदेशोंसे लाभ उठानेके योग्य बनाता है। उनके अन्दर विचारशक्तिको उत्तेजित करके उन्हें जीवनकी दुर्घट घटनाओंके समझनेके लिये तय्यार करता है। संसारकी गतिसे उन्हें भली भान्ति परिचित रखता हुआ, वर्त्तमान परिस्थितिके अनुसार सुख पूर्वक जीना

सिखाता है। अन्याय और अत्याचारका प्रतीकार करना उनके स्वभावका भाग बना देता है। उनके अन्दर परस्पर प्रेमके व्यंहारको उन्नत करता हुआ, वास्तविक जीवनका उदय करता है। लौकिक कल्याणका समर्थन करके, आत्माके शब्दको पहिचाननेके भी योग्य बनाता है। सार यह है कि अपने वचन तथा व्यवहारके प्रभावसे जनतामें सरलता, गम्भीरता, मधुरता, आत्मविश्वास तथा आत्म-सम्मानके उच्चभावोंको भर देता है।

१९. एक २ प्रान्तकेलिये सैंकड़ों और हज़ारों ऐसे वीर, धीर, मनस्वी कार्यकर्त्ताओंकी आवश्यकता है। आर्य-धर्मका विस्तार इस प्रबन्धको किये बिना जड़ नहीं पकड़ सकता। आर्यवर्गको अब निश्चय करना चाहिये कि वह इस ओर कुच्छ बढ़नेको तय्यार है या नहीं। आर्ययुवकोंके हृदयोंमें इस महान् कार्यकेलिये उल्लास पैदा होना चाहिये। आर्य संस्थाओंके अध्यापकों तथा संचालकोंको यह अपना पवित्र कर्त्तव्य तथा उच्च अधिकार समझना चाहिये कि वे देशके फूटते हुए यौवनको इस भारको उठानेके लिये तय्यार करदें। उत्साह, प्रेम और प्रेरणाका दिव्य योग अब इस देशोन्नतिके मूलको दृढ़ करनेके लिये लग जाना चाहिये।

२०. कदाचित् कुच्छ लोग घबराकर प्रश्न करेंगे कि आर्य ग्रामिकोंकी इस सेनाका पालन कैसे होगा? वास्तवमें यह प्रश्न आज किसके सामने नहीं? आज भारत वर्षकी मन्दभाग्य भूमिपर कौन ऐसा प्राणी निवास करता है, जिसे उदर पूर्त्तिकी चिन्ता पीड़ित न करती हो? इस लिये यहांपर

भी यह प्रश्न स्वाभाविक और संगत है, पर इसका उत्तर भी बहुत सहल है । प्रत्येक घरके संचालककी नीतिसे यह समझमें आ सकता है । एक या दो कमाते हैं और घरके सब आदमियोंका पेट भरता है । क्यों ? कमाने वालेकी कई ऐसी आवश्यकताएं हैं, जिन्हें वह स्वयं ठीक तरहसे पूरा नहीं कर सकता । उसके अन्दर प्रेमका भाव है । उसकी तुष्टि उसके घर वाले करते हैं । दूसरे शब्दोंमें घरवालोंके व्यवहार तथा कार्यसे उसके जीवनका एक अपूर्ण भाग पूर्ण होता है । उनके सहयोग और प्रेम से प्रेरित होकर, वह दिन रात उनके लिये कठिनसे कठिन परिश्रम करनेको तय्यार रहता है । सच तो यह है कि वह उनके लिये नहीं करता । वह तो यह अनुभव करता है कि अपने लिये ही करता हूं ।

२१. गृहकी नीतिका रहस्य सहयोग और सहानुभूति है । आर्यग्रामिक विस्तृत पैमानेपर कई ग्रामोंको अपना घर समझकर, उनकेलिये दिन रात एक करनेको तय्यार रहता है । अनथक भावसे उनकी भलाईकेलिये पुरुषार्थ करता है । उनका और अपना भेद ही मिटा डालता है । क्या ऐसे सज्जनकेलिये सरलहृदय, प्रेम-युक्त ग्रामवासी कुच्छ भी न करेंगे ? नहीं, ऐसा कभी न सोचना चाहिये । ऐसा विचार करना मानव-हृदय और मस्तकका अपमान करना है । आर्यग्रामिकको विश्वास रखना चाहिये कि सब प्रबन्ध ठीक २ होजावेगा । उसे और उसके परिवारको ग्राम-जनता पुष्पोंके गुच्छेकी तरह माथेका भूषण बनावेगी । प्राचीन ब्राह्मणकुलोंकी तरह, उसका कुल सारी इर्दगिर्दकी प्रजाके जीवनका मूल-स्रोत होगा । जो

विस्तृत मरुस्थलमें छोटेसे उद्यानका गौरव है, वही उस देवताका उस प्रजाके मध्यमें गौरव और मान होगा।

२२. ग्राम-जनताकेलिये एक परिवारका पालन करना कठिन नहीं। कठिन है, तो आर्यग्रामिकका तय्यार करना। यह हो सकता है कि केन्द्र-संस्था इन आर्यग्रामिकोंकी कुच्छ कालकेलिये साधारण सहायता करा दें, परन्तु उस कालके अन्दर २ उन्हें अपनेलिये मार्ग स्वयं निकालना होगा। इसका विस्तार अब तक इस लेखमें किया गया है। स्थिर-चित्त, सरल-हृदय, गम्भीर, वीर, धीर, विद्वान्, लोक-व्यवहारसे परिचित, उज्ज्वल बुद्धि, महामना, उत्साह पूर्ण युवकोंको आत्महित, देशहित, जातिहित और धर्महितका चतुष्कोण लक्ष्य आंखोंके सामने रखकर इधर बढ़ना चाहिये। बड़ा विशाल कार्य-क्षेत्र है, पर इसका द्वार बन्द पड़ा है। इसे खोल सकने वाले हाथोंकी प्रतीक्षा हो रही है।

—*:०:*—

१५—आर्य पुरोहित।

१. ऋषि दयानन्दके पवित्र चरणोंमें बैठकर हम उस महापुरुषका कोटिशः धन्यवाद करते हैं। उसके असंख्य उपकारोंको स्मरणकर कृतज्ञताके भारसे ग्रीवा झुकी जाती है। उसके सौम्यस्वरूप और दिव्य गुणोंका ध्यानकर चित्त-चकोर उछल २ कर अन्दरके आनन्द-प्रवाहका परिचय दे रहा है। उसकी दयासे ही हमें अब अपनी आंखें पीछेको फेरकर विस्मृतप्राय पुरातन साहित्यकी ओजस्विनी, सुहावनी छटाको

निहार २ आनन्दित होनेका शुभ दिन प्राप्त होता है। वेद भगवान्‌में परमात्माको पुरोहित कहकर स्मरण किया है। कारण कि ज्ञान-सुभूषित सच्चे भक्तजन सदा सब शुभ प्रारम्भोंको करते हुए, सबसे प्रथम उसीका ध्यान धरते हैं। उसीको सब सम्पत्ति तथा ऐश्वर्यका प्रदाता समझते हैं। हम भूले भटकोंको मार्गपर डालकर महाराज दयानन्दने भी सच्चे पुरोहितका कार्य किया है।

२. समाजमें दो बल होते हैं। वेद उनको ब्रह्मबल तथा क्षत्रबल कहकर पुकारता है। प्रत्येक प्राणीमें जीवित रह कर सुख-भोगकी कामना स्वभाव-सिद्ध है। इसकेलिये वाह्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी हृद्गत भावनाओंका अपनी व्यवहारगत चेष्टाओंसे मिलान करके इस रहस्यकी सच्चाईको प्रत्यक्ष कर सकता है। इसी लक्ष्यकी पूर्तिकेलिये मनुष्यने विविध प्रकारसे सामाजिक संगठन पैदा किया है। इसी भावनासे प्रेरित होकर वह परस्पर सम्बन्ध पैदा करता और तोड़ देता है। इसी कामनासे वह धन उपार्जन करता और कई बार अपने सामने अपना घर जलता देखकर तमाशाई भी बन लेता है। इसी वासनासे बंधा हुआ अभी घोर घमसान युद्धमें कराल रूप धारण करता है, और अभी दूसरे ही क्षणमें आंखें नीचे किये हुए दीनताकी मूर्ति बन जाता है। इस सारे नाटकको खेलते २ साधारणतया मनुष्य बेसुध हो अपने स्वरूपको सर्वथा भूलकर साधनको ही साध्य समझ बैठता है। वास्तविक संतोषके मार्गसे च्युत होकर, मानो दिनरात मृग-तृष्णाके पीछे दौड़ता है, परन्तु कोई २ सौभाग्यवान् पुरुष ऐसा भी

होता है, जो अपने लक्ष्यको आंखोंसे ओझल नहीं होने देता। वह उपर्युक्त नाट्यशालामें भिन्न २ भूमिकाओंमेंसे गुज़रता हुआ भी अपने आपको नहीं भूलता। उसमें यह भी सामर्थ्य होता है कि अपने अतिरिक्त अपने साथ जानेवाले यात्रियोंको भी ठीक मार्गपर लगाये रखे। यह पुरोहित है। यह सच्चा नेता है। इसीमें वेदके ब्रह्म-भागका प्रतिनिधित्व है। उसका बल चेष्टा और प्रयत्न द्वारा सामग्रीके उपार्जन और उसके सदुपयोगमें प्रकाशित होता है।

३, इन दोनों बलोंका ही समानरूपमें उन्नति करना सामाजिक संगठनका मूल मन्त्र है। यह कहा तो सदा जाता है कि अति किसी बातमें न करनी चाहिये, परन्तु व्यक्तिकी अवस्थामें भी और जातीय जीवनमें भी मध्यममार्गकी धारणाके विरले ही उदाहरण मिल सकते हैं। प्रायः यह दोनों शक्तियां एक दूसरेके नाशमें ही खपती हुई दिखाई देती हैं। मध्य यूरोपके तथा बौद्ध-धर्मके इतिहास, एवं भगवान् बुद्धसे पूर्ववर्ती ब्राह्मणोंके इतिहास से उपर्युक्त कथनकी सत्यता परखी जा सकती है। प्रोटेस्टेण्ट विचार कभी पैदा न होता, यदि पोप तथा उसके गुमाशतोंने भिन्न २ प्रकारसे जनताको तंग करके आक्रान्तिकेलिये भूमि तय्यार न कर दी होती। भारतवर्षमें लोकायत, बौद्ध, जैन तथा आधुनिक सन्तमतोंका प्रादुर्भाव भी इसी प्रकार एक शक्तिके अधिक बढ़कर दूसरोंको दबानेके घोर अत्याचारमय वायुमण्डलसे ही हुआ। ऋषि दयानन्दके अनन्त उपकारोंमें यह एक बड़ा भारी महत्त्व पूर्ण उपकार समझना चाहिये कि उन्होंने इन दोनों शक्तियोंके साम्यका

प्रबल प्रचार किया। सबसे प्रथम तो उन्होंने अस्वाभाविक ऊंच नीचके कुत्सित भावको मलियामेट करनेका यत्न किया। शरीरके अंगोंके नाईं सारे सामाजिक अवयव उपयोगी हैं। अतः पूञ्जीदार हो या श्रमजीवी, ब्राह्मण हो या बनिया, द्विजन्मा हो या पञ्चम, किसीको यह अधिकार नहीं कि दूसरेको घृणास्पद समझे। कोई काम तथा व्यवसाय जब तक समाजोपयोगी है, नीच नहीं हो सकता। यह उपदेश कभी सफलीभूत नहीं हो सकता, जब तक मनुष्यका उत्कर्ष उसकी योग्यतापर आश्रित न हो। जब तक ब्राह्मणकुमार पुरोहित बननेके योग्य नहीं, एक साधारण कोटिका यजमान बन सकता है, तो उसे उसी अवस्थामें ही रहकर साफल्य प्राप्त होगा, परन्तु वह ऐसा करना क्यों नहीं चाहता ? केवल इसलिये कि उस अवस्थामें नीचताका भाव मिला दिया गया है। परन्तु जब उसे निश्चय होजावे, कि समाज एक योग्य चमारको एक अयोग्य ब्राह्मणकी अपेक्षा, (जो अपने पूर्वजों ही की पूञ्जीपर निर्वाह करता हुआ भी दूसरोंके सिरोंपर अपनी जूती लगानेसे पीछे नहीं हटता) कहीं अधिक मानकी दृष्टिसे देखता है, तो फिर उसे कोई संकोच न होगा। इस प्रकार मनुष्य-समाजमें मनुष्यताके समान अधिकारोंके समर्थक ऋषिवरने ब्रह्मबल तथा क्षत्रबलमें परस्पर समताका विचार दिया। यह भाव बड़ा आवश्यक होते हुए भी सहस्रों वर्षोंसे गुप्त हो चुका था। स्वामीजीने जब संन्यासियों तथा ब्राह्मणोंके ऊपर दूसरे मनुष्योंको निरीक्षणका अधिकार दिया, तो उन्होंने सामाजिक विकासके उच्चतम सिद्धान्तका अविष्कार किया।

४. परन्तु " धन्य हो मुनिसत्तम ! तुमने कभी भी तो

निज चमत्कारोंकी डींग नहीं मारी। तुम्हारे हृदयकी पट्टीपर तो यह स्पष्ट लिखा हुआ था "—

" स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् " अथर्व० १९।७१ ॥

अर्थात् " मैंने जो कुच्छ सीखा है, अपने पुत्रोंको पवित्र करदेने वाली वेदमातासे ही सीखा है "।

यह सामाजिक उन्नतिका मूलोपदेश यजुर्वेद अध्याय २०, मन्त्र २५ में बड़ी सुन्दरतासे किया गया है।

" यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना " ॥

इसका अर्थ प्रश्नोत्तरके रूपमें यूं जानिये।

प्र०—पुण्यलोक कौनसा है?

उ०—जहां ब्रह्म तथा क्षत्र मिलकर साथ चलें।

प्र०—ब्रह्मसे तात्पर्य क्या है?

उ०—वह विद्वान् सज्जन जो समाजके नेत्रोंके समान हैं।

प्र०—उनका क्षत्रोपयोगी कर्तव्य क्या है?

उ०—यह कि वह अपने जीवनको प्रभुकी प्रजाके हितार्थ समझें और यज्ञमय होकर रहें। इसमें संसारका कल्याण है।

५. यह आर्य्योंका पौरोहित्य-यज्ञ है। जैसे आंखोंपर पट्टी बांधकर चलने वाला गढ़ेमें अवश्य गिरता है, ऐसे ही निःस्वार्थ, न्यायशील नेतृ-वर्गसे शून्य समाज अवनतिको प्राप्त होजाता है। वेदमें कहे हुए पुरुष-स्वरूपको समझकर जब तक ब्राह्मण लोग सच्चे पुरोहित बने रहे, भारतमें

स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य्य, ऋद्धि, सिद्धि और धर्मका डंका बजता रहा। जबसे जातीय मस्तकने अपनी उज्ज्वलताको स्वार्थ परायण होकर घातकोंके हाथों बेचना आरम्भ किया है, हमारा अधःपात होता चला आया है। दूसरोंके अधिकारोंके छीननेवालोंकी यह परंपरागत नीति रहती है कि वह दबे हुए लोगोंमेंसे विचारशील विभागके स्वार्थकी ओटमें शिकार खेलते हैं। यह आधुनिक जीवनके माथेपर सबसे भारी कलंक समझिये, कि जिनपर हमारा विश्वास जम सकता है, जो हमारा हाथ पकड़कर हमें संकटसे पार कर सकते हैं, वे ही प्रायः धोखा देकर हमें शत्रुओंके हाथ बेच दिया करते हैं, परन्तु वैदिक सभ्यताका पुरोहित एक विचित्र सत्ता होती होगी। मनु आदि ऋषियोंके महत्त्व-पूर्ण वर्णन तो आपने सुने होंगे। आओ, थोड़ासा वेद भगवान्‌की गम्भीर घोषणाको सुनें।

६. स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम।

यजु० १८। २१॥ यह आर्य पुरोहितका नित्य जाप होता था। कितना उच्च भाव है? इसमें कितनी शक्ति है? "हे विद्वानो तथा प्रभुकी शक्तियो आओ, मिलकर हम पूरा यत्न करें, जिसके द्वारा हम सत्य सुखको प्राप्त हों, हम अमृत हों, और हम परमेश्वरकी प्रजा हों। यह जाप था, जो राजाओं और सेठ साहूकारोंको ब्राह्मण-पुरोहितके साथ आंख नहीं मिलने देता था। इसके प्रतापसे प्रतापी सिकंदरके सामने यहांका ब्राह्मण विनम्र न होता था। उनका जीवन, उनकी विद्या, उनका

तप, अर्थात् सर्वस्व परोपकारार्थ होता था। यजु० १७। ६८ में क्या स्पष्ट कहा है:—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी।

यज्ञं ये विश्वतो धार ९ सुविद्वांसो वितेनिरे॥

अर्थात् जो सच्चे विद्वान् सर्व संसारके धारण करने हारे प्रभुके निमित्त यज्ञका विस्तार करते हैं, उनके आत्मिक विकासमें कोई अड़चन नहीं रहती। यह उपदेश था, जो वसिष्ठको अयोध्यापुरीमें और अगस्त्यको सघन वनोंमें समान मात्रामें संतुष्ट रखता था। एक इस लिए कृतकृत्य था, कि मैं अपने रघुवंशीय यजमानोंके अतुल बल और पराक्रमको बढ़ानेसे संसारसे अन्याय तथा अत्याचारको मिटा डालनेमें निमित्त बन रहा हूं। दूसरा इस कारणसे आनन्दमें था, कि मैं प्रभुकी आज्ञानुसार वेदामृत पिलाकर आर्य्य वंशकी उन्नति कर रहा हूं। दोनोंका स्वार्थ परार्थमें लीन होरहा था, और इसे ही यज्ञका तत्त्व समझना चाहिये।

७. वैदिक पुरोहितोंका यह यज्ञ मिथ्यावादका पक्ष-पोषक न था, और न मिथ्या २ कहते हुए संसारको अपने घरमें डाल लेनेमें सहायक था। आर्य्य ब्राह्मणोंके तो वेदने और ही उपदेश पढ़ाया था। यजु० ११। ८॥

"इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम्॥

हे भगवन्, हमारे यज्ञको बढ़ाओ। हमारा यज्ञ सच्ची पूजा, भक्ति, मित्रता, शक्ति, सुख तथा सम्पत्तिका लाने वाला हो। ब्राह्मणका ब्रह्मतेज समस्त राष्ट्रकी रक्षा करता था। इसीमें

उसकी अपनी भी रक्षा थी । आज तीर्थोंके पराडों तथा नाशोन्मुख ग्राम-पुरोहितोंको वेद पुनः लम्बी नींदसे उठाना चाहता है। उनको नेता बना राष्ट्रोन्नतिमें साधन बनाना चाहता है। "वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा।" अर्थात् हम सच्चे हृदयसे चाहते हैं, हम राष्ट्रकी वृद्धिके लिये सदा जागते रहें। यह (यजु० ६। २३॥) सूत्र सारी समाजसमृद्धिका बीज मन्त्र है। वे पुरोहित जागते थे, युद्ध भूमिमें भी यजमानके कंधेके साथ कंधा मिलाते थे। वे शत्रुके सिर पर आ धमकनेपर हाथ पर हाथ धर कर बैठना और मूर्त्तियोंके आगे माथा रगड़ना नहीं सिखाते थे। हां, विश्वामित्रकी तरह शस्त्रास्त्रोंका गुप्त प्रयोग अच्छी तरह बताते थे। वेदकी शिक्षानुसार प्रत्येक पुरोहित अपनी छातीपर हाथ रखकर ललकारकर कहता था :—

"संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्य्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः" ॥

तथा, 'तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः" यह अथर्ववेदके तृतीय काण्डकी श्रुति है। अर्थात् मेरे ब्रह्मबलका भण्डार ठीक है। वीर्य्य और बल सुरक्षित है। सुरक्षित क्षत्र सदा चमकता रहे। जिनका मैं पुरोहित हूं, वे सदा विजयी होंगे'।

८. इस पौरोहित्य-यज्ञको धारण करके हमारे देशके प्राचीन ब्राह्मणोंने इस देशको सारे संसारका पुण्य-तीर्थ बना रखा था। द्वीप द्वीपान्तरसे लोग अपनी शिक्षाको पूर्ण करनेके लिये पुण्य भारत-भूमिकी यात्रा किया करते थे। वेद भगवान्के आदेशानुसार मत्सर तथा द्वेषको अपने चित्तोंसे परे रखते हुए

और परस्पर हाथ बटाते हुए वे लोग समाजके अभ्युदयको ही अपनी उन्नतिकी कसौटी समझते थे। यजुर्वेद १७। ५६॥ में इस तरह यह उपदेश आया है:—

'परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्य्यन्तो अस्थुः'।

अर्थात् परमात्माकी दिव्य शक्तियोंका अनुसरण करने वाले, धार्मिक विद्वज्जन इस जीवन यज्ञको धारण करते हुए परस्पर सहायक होते हैं। काम बिगड़ता ही तब है, जब एक २ व्यक्ति अपने हितको समाजके हितसे पृथक् समझकर उसे अपना साध्य बनाता है।

९. आज वहां सर्वत्र स्वार्थकी प्रधानता होते हुए भी मिलकर थोड़ा बहुत अपने लाभकेलिये अथवा परोपकार्थ भी कार्यकर लेते हैं। पण्डितों तथा पुरोहितोंके विषयमें इतना भी नहीं कहा जासकता। इन अल्प-बुद्धि लोगोंको न अपना हित करना आता है और न दूसरेकी भलाई करनेकी समझ है। यह क्यों? केवल इस लिये कि वेदका पठन पाठन छोड़ देनेसे हमें अपने स्वरूपका ज्ञान भी नहीं रहा। ऋषि दयानन्दकी तीव्र आर्यदृष्टिने देखा कि शिरोहीन समाज कभी भी आगे बढ़ना तो दूर रहा, जीवित भी न रह सकेगा। इन्होंने भरसक यत्न करके अपने व्याख्यानों तथा लेखोंद्वारा इन स्वास्थ्यप्रद विचारोंको हमारे कानोंतक पहुंचाया। हम कुछ जगे भी, पर कुम्भकरण जागता ही जगेगा। इस बीचमें ऋषिका आत्मा अधिक प्रतीक्षा न करके हमारेसे ओझल हो गया। शायद उन्हें विश्वास हो गया था, कि मेरे पीछे मेरे स्थानपर

आर्य्य-समाजकी सामुदायिक शक्ति इन विचारोंके प्रसार करने वाले, धर्मवेदीपर बलिदान होने वाले, स्वार्थ तथा परार्थका भेद मिटाने वाले, आर्य-ज्योतिके पतङ्ग, वैदिकचन्द्रके फड़कते हुए चकोर, आन्तरिक तड़पसे आर्य्य-मुनियोंकी मेघमालाको निहार २ निहाल होने वाले मयूर पैदा करनेमें समर्थ होगी, परन्तु अब तक हमारा कार्य-क्रम सार्वजनिक हितसे प्रेरित होते हुए भी समाजके, विशेषकर हिन्दू-जातिके आन्तरिक रोगके वाह्य चिह्नोंकी निवृत्ति करना ही रहा है। हमारी चिकित्साका आन्तरिक प्रभाव अभी बहुत कम पड़ा है। आओ, आर्य्य-गण! आज हम अपने मनमें दृढ सङ्कल्प करें। हमारा धार्मिक जीवन सूखासा हो रहा है। पौरोहित्य-यज्ञसे ही इस सूखेपनको दूर करनेकेलिये अमृत-वर्षाकी सम्भावना हो सकती है, तो क्या आर्य्य नर नारियोंमें यह शान्त, गम्भीर भाव पैदा होगा, कि हम इस पवित्र यज्ञके करनेवाले पुरोहित पैदा करेंगे। हम यत्न करेंगे कि अपने दूसरे कार्य्योंपर, शानदार विशाल भवनोंपर, सुन्दर वस्त्रोंपर और बहुमूल्य भूषणोंपर तब अधिक व्यय न करेंगे, जब तक कि कमसे कम दस सहस्र सच्चा पुरोहितप्रचारक मैदानमें खड़ा न देख लेंगे।

——:o:——

१६–आर्यप्रचारकसंघ।

१. आरम्भिक लेखोंमें आर्यधर्मके प्रचारका संकेत किया गया था। यदि इस बातका विचार करें कि अभी कहां २ प्रचार करना शेष है, तो प्रतीत होता है कि जो कार्य हो चुका है, उसकी मात्रा समुद्रमें बिन्दुसे अधिक नहीं है। साधारणतया पंजाबमें अधिक कार्य प्रतीत होता है, पर यहां भी प्रचारका क्षेत्र नगरोंके आस पास ग्रामों तक विस्तृत नहीं हुआ। नगरोंमें भी कुच्छ पढ़े लिखे लोगोंको छोड़कर, हज़ारों ऐसे नर, नारी बसते हैं, जिन्हें आर्यसमाजका कुच्छ भी ज्ञान नहीं है।

२. दक्षिण–पूर्व पंजाबके ग्रामोंमें प्रचारका यत्न किया गया है। देहली तथा संयुक्त प्रान्तके ग्रामोंमें भी कुच्छ २ कार्य हुआ है, पर अभी तक किसी प्रकारका आर्यभाव संगठित होकर प्रकट नहीं हो रहा। कभी वर्ष, दो वर्षके पीछे कोई प्रचारक पहुंच जाता है। सैंकड़ों ऐसे स्थान हैं, जहां एक वार सन्देश सुनाया गया और फिर कभी जाकर समाचार ही नहीं पूछा गया। शायद ही ऐसा कोई प्रदेश हो, जहां पूर्वोक्त आर्यग्रामिकोंको बिठाकर कार्यक्षेत्र दृढ़ बनाया गया हो।

३. प्रचारका यह तात्पर्य नहीं है कि कहांपर कितने व्याख्यान हुए। देखना यह चाहिये कि जिस कमीको दूर करनेकेलिये आर्यसमाजका जन्म हुआ था, उसकी निवृत्तिमें कितनी सफलता हुई। इस विचारसे देखा जावे, तो कई अंशोंमें कार्यकी मात्रा अच्छी है। विशेषकर, पंजाब और संयुक्तप्रान्तमें स्त्रीशिक्षा, योग्यविवाह, दलितोद्धार, विधवोद्धार, विद्याप्रचार,

हिन्दीप्रचार आदिके भावोंको जनताने ग्रहणकर लिया है। लोगोंकी इधर प्रतिदिन प्रवृत्ति बढ़ रही है।

४. परन्तु यदि एक और दृष्टिकोणसे देखें, तो परिणाम थोड़ा प्रतीत होता है। आर्यसमाजके सभासदोंकी संख्यामें बहुत वृद्धि नहीं हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्योंकी संख्या कई लाख हो गई है, पर इनमें अधिक ऐसे लोग हैं, जो आर्यसंगठनसे बाहिर ही रहते हैं। इनके विचार आर्य हो चुके हैं, पर नियमपूर्वक आर्यसभासद् बनकर कार्य करना इन्हें पसन्द नहीं। परिणाम यह हो रहा है कि आर्यसमाजके साप्ताहिक अधिवेशनमें कोई गौरव दिखाई नहीं दे रहा। सैंकड़ों ऐसे स्थान हैं, जहां मन्दिरोंका द्वार ही कभी नहीं खुला।

५. अनेक स्थानोंपर आर्यसंस्थाओंके कारण लोग आर्यसमाजको जानते हैं, परन्तु आर्यसमाजके संघ-बलको कोई लाभ नहीं होता। यही कारण है कि बड़े २ केन्द्र-स्थानोंमें भी, जहां आर्यसंस्थाएं खूब चल रही हैं, सहस्रोंकी जन-संख्या है, आर्यसभासदोंकी संख्या सौ या डेढ़ सौसे अधिक नहीं होती। इन स्थानोंपर नगरनिवासियोंके साथ हमारा सम्बन्ध केवल संस्थाओंकेलिये दान मांगने तक संकुचित रहता है। ऐसे लोगोंका अभाव है, जो इन्हें वार २ मिलकर, अपने आत्माको इनके हृदयमें प्रतिबिम्बितकर सकें।

६. भारतवर्षके दूसरे प्रन्तोंमें तो और भी थोड़ा काम हुआ है। कुछ मुख्य २ स्थानोंको छोड़कर, वहां लोगोंने आर्यसमाजका नाम भी नहीं सुना। कई वार ऐसा भी देखा जाता है कि आर्यप्रचारक पीछे पहुंचता है, और कोई

विरोधी योद्धा पहिले ही लोगोंके दिलमें आर्यसमाजके विरुद्ध भाव भर आता है । इन सब प्रदेशोंमें योग्य प्रबन्ध करके जनताको आर्य बनानेकी आवश्यकता है ।

७. भारतवर्षसे बाहिर, भिन्न २ देशोंमें लाखों भारतीय जनता बसती है । भिन्न २ स्थानोंपर उनकी स्थिति है । चाहे मनुष्य धनवान् हो और चाहे निर्धन हो, उसके आत्माकी धार्मिक आवश्यकता तो बनी ही रहती है । कभी २ कोई प्रचारक विदेशमें चला जाता है, पर अभी तक कोई सुनिश्चित तथा स्थिर प्रबन्ध नहीं है । प्रायः लोग अपनी संस्थाओंके लिये आर्थिक संग्रहको मुख्य लक्ष्य बनाकर जाते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके जानेसे वहां कुच्छ विचारोंका प्रचार हुआ है, परन्तु उचित यह है कि अलग २ स्थानोंके लिये स्थायी प्रबन्ध हो । उन स्थानोंका धन प्रथम वहीं विस्तारके काममें लगे और यदि वहांकी आवश्यकतासे अधिक हो, तो यह लानेमें भी कोई हर्ज नहीं ।

८. शेष संसारके तीन मुख्य भाग हैं, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान । इनमें आर्यधर्मके विस्तारकी कोई गुंजायश है या नहीं ? स्वतन्त्र प्रजामें स्वभावतः आर्यत्व अधिक होता है । हमारे पास अपने पूर्वजोंकी सम्पत्ति अवश्य मौजूद है, पर चिरकालीन दासताके कारण हमारा चरित्र उसका योग्य लाभ उठानेके लिये अभी पूरा तय्यार नहीं । हमारी हीन दशाका एक और परिणाम भी है । हमारा शब्द स्वतन्त्र जातियोंके लिये निर्बल सा होगया है । जिन उच्च भावोंका हमारे शास्त्रोंमें उपदेश है, उनका कई अंशोंमें स्वतन्त्र जातियोंमें

प्रचार पाया ही जाता है। उनका जीवन, आशा, पुरुषार्थ, नियम, संगठन तथा सत्यताका जीवन है। हमने इन गुणोंको फिरसे धारण करना है।

९. इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्वतन्त्र जातियोंमें हमारे द्वारा आर्यधर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। अभिप्राय यह है कि हमने स्वयं आर्य धर्मसे तथा उन्नत जतियोंसे पूर्वोक्त गुणोंको अभी सीखना है। इन जातियोंने आर्यधर्मसे आत्मिक एकताकी शिक्षाको प्राप्त करके, विश्व-प्रेमके भावको धारण करना है। अभी तक इनकी सभ्यता केवल प्राकृतिक भोगोंको अधिक बढ़ानेमें लगी रही है। अब कुच्छ लोगोंमें इस नीतिके विरुद्ध जागृति पैदा होरही है। आध्यात्मिक प्यास अनुभव होरही है। आर्यधर्मका पूर्ण संदेश इनकी आशाओंको पूर्ण कर सकता है। हम बलवती आर्यसभ्यताके योग्य दूत बनकर इन लोगोंमें पर्याप्त कार्य कर सकते हैं।

१०. पर यह कार्य अति कठिन है। इसके लिये उच्च कक्षाका त्याग, पराकाष्ठाकी विद्याके साथ युक्त होकर कृतार्थ हो सकता है। बौद्ध देशोंमें अपेक्षाकृत आसानी होनी चाहिये। बौद्ध मत आर्यधर्मकाही एक सम्प्रदाय है। भगवान् बुद्धका यह विश्वास था कि मैं शुद्ध आर्यधर्मका ही प्रचार करता हूं। बौद्ध प्रजाको पुरातन सम्बन्धके आधारपर अपने समीप लाकर आर्यधर्मकी वृद्धि की जावे। ईसाई देशोंमें भी अनेक दिलवाले लोग मिलेंगे, जो आर्यप्रचारककी बातोंको रुचि पूर्वक सुनेंगे। मुसल्मान देशोंकी अवस्थामें भी उत्साहजनक परिवर्त्तन होरहा है।

११. इस विशाल कार्य्यको करने वाले योग्य प्रचारक कहांसे आवें? यह प्रश्न है, जिसके दो उत्तर दिये जाते हैं। आज कल जीवनकी स्थिति आर्थिकरूपसे बड़ी बदल चुकी है। पहिले लोगोंकी आवश्यकताएं थोड़ी थीं। उनके शरीर अधिक स्वस्थ थे। खाने पीनेके पदार्थोंकी कमी न थी। ब्राह्मण पुरोहितों और वेदपाठियोंका जीवन प्रकार दूसरे लोगोंसे बहुत भिन्न नहीं था। सब लोग आजकी अपेक्षा बहुत सादा थे। इसलिये ब्राह्मणकी दृष्टिमें उसकी निर्धनता अखरती न थी। आज सब प्रकारके लोगोंने अपनी आवश्यकताओंको बढ़ा लिया है। वस्त्र अधिक चाहिये। खाने पीनेके कई प्रकारके पदार्थ चाहियें। टीप टापका सामान और दवाइयोंका खर्च अनिवार्य हैं। धनवानोंने विशेषकरके अपनी जीवन-नीतिको खर्चालु बना रखा है। जो निर्धन या साधारण आय वाला उनके पास रहता है, उसे अब अपनी दीनता बहुत सताती है।

१२. सामाजिक व्यवहारमें वेदशास्त्रके विद्वानोंकी स्थिति निर्धनताकी स्थिति है। विद्यासम्बन्धी संस्थाओंमें या और किसी कार्यकेलिये, जब पण्डितोंकी नियुक्तिका प्रश्न आता है, तो इतना वेतन निश्चित होता है कि जिससे वस्तुतः आज कलकी दशामें एक शरीरका भी ठीक पालन नहीं हो सकता। जिनके हाथमें प्रबन्धका बल है, वे जो शारीरिक आदर्श अपने सामने रखे होते हैं, उसका पांचवां या दशवां और बीसवां भाग पुरोहित या प्रचारककेलिये स्वीकार करके दयानतदारीसे यह समझते हैं कि पण्डितजीकेलिये ठीक प्रबन्ध हो गया। इससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है कि पण्डितजी भी यही समझते हैं।

१३. जिस समय एक संस्कृत विद्याका विद्वान् किसी स्थानके लिये प्रार्थनापत्र लिखता है, तो वह स्वयं भी अपना आदर्श लगभग यही रखता है। परन्तु इसका फल सामाजिक विषमता है। जब तक एक नवयुवक, उत्साहपूर्वक शास्त्रोंको पढ़ता जाता है, तब तक ही उसकी अवस्था ठीक समझिये। ज्योंही वह कहीं नियुक्त होजाता है, वह अपने दाएं बाएं दूसरी विद्याके विद्वानोंको, अपनेसे अच्छा खाना खाते हुए अच्छा वस्त्र पहनते हुए और अधिक सुखसे रहते हुए पाता है। वह अन्दर ही अन्दर क्लेशको अनुभव करने लगता है। शनैः २ दीनताका आवरण उसकी सौम्य आकृतिको ढक लेता है। उसके शब्दोंमें रस नहीं रहता, उसके माथेपर तेजका अभाव होजाता है। जो काम उसे सौंप दिया जाता है, उसे किसी तरहसे कर देता है, परन्तु उसके अन्दर अपनी प्रेरणा और प्रतिभाका विकास बन्द होजाता है।

१४. इसका परिणाम समाजकेलिये बड़ा हानिकारक होरहा है। संस्थाओंकी धार्मिक तथा संस्कृत विद्याकी शिक्षा तथा सभाओंके प्रचारका काम इस प्रकारके व्यक्तियोंके ही सपुर्द होता है। वे प्रायः सदा अपनी स्थितिकी शिकायत ही करते रहते हैं। उनके जीवनमें समाजको धक्का दे सकनेवाला उल्लास शायद ही कभी पैदा होता हो। बड़े महत्त्वपूर्ण सामाजिक आन्दोलनोंमें शायद ही वे कभी अग्रणी बनते हों। कहनेको तो सामाजिक हृदयके वे स्वामी समझिये और वास्तवमें देखा जावे, तो नित्य धनादिकी वृद्धि द्वारा उन्नति करती हुई प्रजामें उन्हें दीन, हीन, अपरिचित यात्री समझिये।

उनके साथ सम्पर्कमें आकर किसी युवकके हृदयमें सेवाभाव, जातीयहित, धर्मप्रचार, स्वातन्त्र्य, निजाधिकार रक्षाके बलवान् तरंग पैदा नहीं होते। पर सच पूछो, तो धर्मप्रचार और वेद विद्याके विस्तारका इन भावोंकी वृद्धिके सिवाय और उचित गौरवयुक्त फल हो ही क्या सकता है?

१५. इस लिये अनिष्ट कार्यको रोकनेके लिये विषैले कारणको दूर करना आवश्यक है। जब तक धर्मप्रचारकोंके हृदयमें आत्म-गौरव, आत्म-विश्वास, आत्म-सन्तोषके भाव उमड़ते हुए न पाये जावेंगे, तब तक उनके श्रोताओंमें इनका संक्रमण असंभव है। प्रचण्ड आत्मिक ज्वालाकी एक चिंगारी भी मृतप्राय प्राणियोंमें जीवन-ज्योति जगा देती है। इसके विना तो जो कुच्छ होता है, वह केवल नाटक होता है। उसमें वास्तविकता बहुत थोड़ी है।

१६. इस स्थितिको ठीक करनेका पहिला उपाय यह है कि संस्कृत विद्याके विद्वानोंका सम्मान केवल जिह्वासे न हो, वरन् उनकेलिये निर्वाहका अच्छा प्रबन्ध होना चाहिये कि वे दूसरे लोगोंके मध्यमें रहते हुए अपने आपको दीन न समझें। संस्कृत विद्याकी पढ़ाईका आदर्श ऊंचा रखा जा सकता है। पण्डितोंकी व्यावहारिक उपयोगिता भी पैदा हो सकती है। उन्हें कई प्रकारके प्रबन्धके कार्य भी दिये जा सकते हैं, पर जब तक इस दबाने वाले दीन भावको दूरकरनेके लिये सामाजिक प्रबन्धक निश्चय नहीं करते, तब तक यही दुःखदायक प्रतीति होती रहेगी कि संस्कृत विद्या आज कलकी विद्याकी दासी बननेके लिये ही पैदा हुई है।

१७. पर क्या सामाजिक प्रबन्धक ऐसा करनेको तय्यार होंगे ? निश्चित रूपसे अभी नहीं । हां, समय आ सकता है, जब आर्य संस्थाओंमें संस्कृतके योग्य विद्वानोंको उचित मान मिल सके । इसके लिये पहिले जनताको इस मार्गपर डालना होगा । इससे बढ़कर, पण्डितोंको अपने उच्च जीवनोद्देश्यको समझना होगा । और पाठशालाओंमें स्थिति ठीक होजानेपर भी प्रचारकोंकी समस्या तो नहीं सुलझती । पूर्वोक्त कार्य्योंके लिये हज़ारों सदुपदेशकों का संगठित होना अत्यावश्यक है । इस समय सारे आर्य जगत्में कोई ऐसी सभा नहीं, जो इतने प्रचारक वैतनिकरूपसे, चाहे वह वेतन कितनी ही साधारण क्यों न हो, रख सके ।

१८. संसारका धार्मिक इतिहास भी यही साक्षी देता है। धनके अधिक होजानेसे धर्मप्रचारका वह बल और प्रभाव नहीं हुआ करता, जो उस समय होता है जब कि सच्चे उपदेशक अपने भावोंके विस्तारकेलिये इधर उधर हज़ारों प्रकारकी आपत्तियां सहते हैं, भूखों मरते हैं, पर शिकायत कभी नहीं करते। जैसी हमारी वर्त्तमान समयमें स्थिति है, यह आशा करना कि पहिले सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेका समाजकी ओरसे प्रबन्ध होगा, और फिर जगत्में प्रचार होगा, सचमुच स्वाभाविक क्रमका उलटा करना है। इस बातसे कौन बुद्धिमान् इनकार करेगा कि आर्य प्रचारकोंके योग्य निर्वाहका प्रबन्ध होना चाहिये ? पर इसका यह भाव नहीं है कि ऐसा मानते हुए भी लोग ऐसा कर देंगे । और यदि करनेपर आवें भी, तो कितने महानुभावोंकेलिये कर सकेंगे ।

१९. जहां समाजमें इन विचारोंका प्रचार करते रहना चाहिये, वहां सच्चे प्रचारकोंको यह भूलना न चाहिये कि पहिले स्वयं उन्हें कड़ी परीक्षाके अन्दरसे सफलतापूर्वक निकलना होगा। आर्यधर्म विश्वव्यापी धर्म तब ही बनेगा, जब धर्म-प्रचारका उच्च इतिहास यहां दुहराया जावेगा। जो लोग यह अनुभव करते हैं कि समस्त सामाजिक रोगोंका इलाज विशुद्ध वैदिक धर्मका प्रचार है, उन्हें चाहिये कि वे अस्वाभाविक सन्तोषमय जीवनकी लहरोंसे संसारको आप्लावित करदें। वे त्यागशील हों, ताकि उनके भक्त धनवान् हो सकें। वे दुःखमें रहें, ताकि उनके उपदेशोंको सुनकर लोग सुखी हो सकें। आर्यधर्मके प्रारम्भिक प्रचारक वही सज्जन होंगे, जो निर्धन होते हुए, बड़े २ धनाढ्योंसे अधिक सन्तुष्ट और अदीन होंगे।

२०. सच्चे प्रचारकके सामने यह प्रश्न नहीं होता कि दूसरे मेरे साथ क्या व्यवहार करते हैं। वह तो उन्हेंव्यवहार सिखानेकेलिये ही तो घरसे निकलता है। उसकी चित्त-वृत्ति स्थिर होती है। उसे स्थिर करनेकेलिये ही वह बरसों तप और मनन करता है। वह स्वतन्त्र होता है, उसे कोई वेतनोंका प्रलोभन देकर या अच्छे २ पदार्थोंसे आकर्षण करके, नौकर नहीं बना सकता। वह अदीन होता है, क्योंकि उसने दीनताके मूलकारण, तृष्णा और विषय-वासनाओंको दबाया हुआ होता है। शीघ्र ही लोग उसे अपना पूज्य बनालेते हैं, परन्तु इसके मनमें कभी ऐसी इच्छा पैदा नहीं होती है। वह ईश्वरका सच्चा भक्त होता हुआ, सबके कल्याणकी सोचता हुआ, निष्पक्षभावसे युक्त हो के, सदा लोगोंको अच्छा मार्ग दिखाता है।

२१. भारतवर्षके ग्राम २ में प्रचार होगा और विदेशमें भी प्रचार होगा। एक समय आयगा, जब भूमण्डलके लोग आर्य होकर, देश, विदेशके भावको ही उड़ा देंगे। परन्तु कब? जब इस प्रकारके आदर्शवादी, आदर्शकारी और आदर्शमानी प्रचारक कार्यक्षेत्रमें संगठित होकर निकलेंगे। ऐसी आशा करना हमारा अधिकार है। भारतवर्षमें अभीतक इसी प्रकारके जीवन वाले, प्राचीन प्रचारकोंकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। वर्त्तमान समयमें महर्षि दयानन्दने पुनः उसे जीवित कर दिया है। इन पूर्वजोंके मार्गपर चलने वाले सैनिक पूर्व वर्णित विचारोंका प्रचार चाहते हुए भी, प्रतीक्षा नहीं करेंगे। वे इस बातकेलिये संकल्प कर चुके होंगे कि हमें जीवनमें सबसे बड़ा आनन्द यही मिल रहा है कि हम अपनी ओरसे पूरा बल लगाकर, आर्यधर्मका विस्तार कर रहे हैं। धनाढ्य गृहस्थ आगे बढ़ें। इस सेनाकी सहायता करें। यह अच्छा है। पर यह सेना इस सहायतापर निर्भर होकर काम नहीं करेगी। उन्हें पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सब ओरसे निमन्त्रण आरहे हैं। जिधर उनके पग पड़ेंगे, वहीं वेदका संदेश पहुंचेगा।

२२. संघमें बल है। यदि इस सेनाका संघ बन गया, तो वस्तुतः पुराना इतिहास दुहराया जावेगा। वर्त्तमान सभाओंका प्रबन्ध उस संघके विस्तृत कार्यक्रमका एक भाग होगा। उस संघके दैशिक और वैदेशिक दो भाग होंगे। साहित्यक, अध्यापक, नागरिक, परिव्राजक, माण्डलिक और ग्रामिक भेदसे कई और विभाग होंगे। भिन्न २ विभागोंके नियम अलग २ होंगे।

२३. संघके केन्द्र-स्थानपर उत्तमोत्तम साहित्यकी रचना होगी। प्रचारार्थ पत्र और पत्रिकाएं निकलेंगे। प्राचीन विद्याके पुजारी उसकी उन्नतिमें सदा लगे रहेंगे। वहांपर योग्य छात्र तय्यार होते रहेंगे। रुग्ण, अशक्त तथा वृद्ध सेवकोंके विश्रामका वहां प्रबन्ध होगा । प्रतिवर्ष वहांपर संघके अंग इकट्ठे होंगे । प्रमुख विचारकोंके भावोंकी समालोचना और धारणा करेंगे। नये वर्षकेलिये कार्यक्रम निश्चित करके, और जीवनको फिर उल्लसित करके, परिव्राजक अपने काम पर, माण्डलिक अपने केन्द्रोंको और ग्रामिक अपने केन्द्रोंको चले जावेंगे। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम, उपनगर और नगरका मुख्य केन्द्रके साथ संबंध होगा। सब कार्यकर्त्ताओंकी उसमें श्रद्धा होगी। साधारण, तपस्याका निर्वाह करते हुए, जो धन होगा, उसे वहां भेजते रहेंगे । वह संग्रह संघकी सम्मिलित सम्पत्ति होगी। उसका समुचित उपयोग वार्षिक अधिवेशनमें निश्चित हो जाया करेगा। संघकी कार्यकारिणी सभाका प्रत्येक चौथे वर्ष निर्माण होगा। सब अंगोंमें सम्मति-शक्तिका ठीक २ विभाग होगा। जो प्रचारक न होते हुए भी संघके धनादिसे सहायक होंगे, उनका भी वहांपर प्रतिनिधित्व होगा । संघके प्रवेश और बहिष्कारके विशेष नियम होंगे। प्रत्येक अंगको जो प्रधानाधिकारी आज्ञा देंगे, उसे उसका पालन सर्वथा करना ही होगा।

२४. यह आर्य प्रचारकसंघ आर्यसमाजका भावीबल होगा। यह देश और विदेशको आर्यत्वके नातेमें मिलानेवाला मुख्य साधन होगा । यह संसारकी वर्त्तमान विषमता और

शान्तिको हटा कर साम्यवाद और शान्तिके सिंहासनको स्थापित करेगा। यह कब बनेगा और कैसे बनेगा, इसका कुछ निश्चित ज्ञान नहीं, पर चारों ओर व्यापक अन्धेरे में जबभी प्रकाशकी रेखा दिखाई देती है, तो वही इसी चित्रके रूपमें परिणत हो जाती है। नये रक्तसे सञ्चरित, आर्य हृदय ! जाग, जाग ! संसार आशाभरी दृष्टिसे तेरी ओर टिकटिकी लगाये हुए है। उठ, इन आशाओंको पूर्णकर।

——:o:——

१७—आर्य-साम्यवाद ।

१. मनुष्य जीवनका मुख्योद्देश्य सद्धर्मको जान, उस पर आचरण कर, मोक्षको प्राप्त करना है । सद्धर्मका बोध सत्य धर्म पुस्तकोंसे ही संभव है । जो संसारमें आकर न पढ़े और न सुने, उस सरीखा मूर्ख कौन होगा ? परन्तु उसके समान अत्याचारी भी मिलना कठिन है, जो धर्म मन्दिरमें किसीको प्रविविक्षु जान झट द्वार यन्त्रित करनेको उद्यत रहता है ! अतः भलाई इसीमें है कि न कोई मूर्ख बने और न कोई अन्यायशील हो ।

२. परन्तु यह इच्छा प्रायः इच्छा ही रह जाती है। धर्म आन्तरिक और वाह्यभेदसे दो भागोंमें बट जाता है। भीतरीसे अभिप्राय यह है कि यम, नियमादि पर आचरण किया जावे। वाह्यका तात्पर्य रीति रिवाजके अनुसार कर्मकाण्डमें है। यदि विशेष प्रकारका कर्म विशेष ढंगपर न किया जावे, तो वह दण्डका कारण बन जाता है। संसारके इतिहासमें

धर्मके इस भागने बहुत खेल खिलाया है। इसकी बागडोर सदा एक ऐसी जन-श्रेणीके हाथमें रही है, जिसने विद्याके प्रकाश को संकुचित करनेमें ही कल्याण और इतिकर्त्तव्यता समझी है। यह इन्हीं महात्माओंकी कृपा समझिये कि स्वामी दयानन्द जैसे महानुभावके प्रचारको हुए, ५० वर्ष व्यतीत होने पर भी हमने वेद विषयमें अधिकारानधिकारके प्रश्नको उठानेका साहस किया है।

३. इसमें अब किसे सन्देह है कि प्राचीन समयमें वैदिक प्रकाश भारतीय सीमाओंको उल्लंघन कर दूर २ फैल रहा था। सर्वत्र आर्य्योंका लोहा माना जाता था। इसके असंख्य प्रमाण महाभारत आदि पुराने पुस्तकोंसे और खुदाई द्वारा किये जाने वाले नूतन अनुसन्धानोंसे मिल रहे हैं। उस समय हमारा धर्म सार्वजनिक था। पुराण तक यही साक्षी देते हैं। सहस्रों जातियां यहां आकर अपना नाम अपनी भाषा और अपना धर्म सब भूल कर हममें नीर क्षीरकी नाईं एक हो गईं। आज बड़े २ पुरातत्त्वानुसन्धानिकोंके आविष्कार ही कदाचित् इस मौलिक जातीय विवेकपर कुच्छ प्रकाश डालें, तो डालें। अन्यथा द्वयी सदाके लिये एकतामें लीन हो चुकी है।

४. शनैः २ अधः-पात हुआ होगा। परिधि छोटी होते २ यह अवस्था भी होगई कि वेद ब्राह्मणके लिये ही रह गया। समुद्र-पार जाकर धर्म भ्रष्ट होने लगा। और अबभी यही अवस्था है। यह और बात है कि आर्यसमाजका बढ़ता हुआ प्रचार इस विचारको दबनेपर लाचार कर रहा है। दूसरे, इससे भी ढीला पड़ गया है कि स्वयं ब्राह्मणोंने वेदका

आश्रय छोड़ दिया है । तीसरे बलकी बात है । एक निर्बल शूद्रको पढ़नेसे रोका जा सकता है । शूद्रोंके सहायक, आर्योंको भी कोपकी भट्टीमें झोंका जा सकता है, पर ब्राह्मणत्व तथा क्षत्रियत्वके अभिमानी, तिलकधारी पण्डित और उद्दण्ड राजपूत भी गौरमुख वेदपाठियोंको मान पत्र देने और सौ बलाएं ले २ कर उनके हाथ चूमनेमें ही अपनी भलाई समझते हैं । आज यूरोप और अमेरिकाके विश्वविद्यालयोंमें वेद पढ़ा और पढ़ाया जाता है । इन लोगोंमें साहित्यक रसिकताका भाव प्रधान होता है । ईश्वरीय वाक्य समझ कर, मोक्षका साधन समझ कर या धार्मिक श्रद्धासे युक्त हो कर यह सज्जन वेदको नहीं उठाते । दूसरी ओर, करोड़ों भारतीय इन भावोंसे प्रेरित हो कर जब वेद शास्त्रके समीप आना चाहते हैं, तो मन माने अधिकारोंके नामपर इन्हें बुरी तरह कोसकर परे धकेल दिया जाता है ।

५. यदि आर्य सेवक प्रचार-क्षेत्रका अतिशीघ्र विस्तार न कर सके, तो बिगड़ी दशाके सुधारकी आशा भी न रहेगी । पंजाबमें सामाजिक अत्याचार दूसरे प्रान्तोंकी अपेक्षा कम है । दक्षिणमें इसकी पराकाष्ठा हो चुकी है । अब शूद्र कह कर दबाये जाने वाले लोग जाग रहे हैं । अत्याचार तब तक सहा जा सकता है, जब तक कि आत्मसम्मान का उच्च भाव जागृत नहीं होता । विद्याका प्रचार बढ़ा चला जाता है । विधर्मी इन्हें भड़का रहे हैं । इनमें से लाखों चोटी कटा कर दूसरे सम्प्रदायोंमें होकर एक प्रकारसे मनुष्यताके अधिकारको नये सिरेसे प्राप्त कर रहे हैं । अब यह संभव नहीं कि यह हमारे समाजमें

पशुपनके बर्त्तावको अधिक काल तक सह सकें । विदेशीय साम्राज्यका इसमें स्वार्थ है कि अछूत लोगोंको पुराने समाजके विरुद्ध खड़ा करे । यह कार्य बड़े पैमानेपर आरंभ कर दिया गया है । हिन्दू समाजको उचित है कि कुम्भकरणी निद्राको छोड़ दे । इस घोर निद्रामें एक चौथाई भाग कटकर विधर्मी हो गया है और अब शेष तीन भागोंको विधर्मी हड़प करना चाहते हैं। यदि अब दूसरा चौथाई भाग हमारे विरुद्ध खड़ा हो गया, तो फिर द्विजपनके अभिमानियोंको इस देशमें रहना भी कठिन हो जायगा।

६. तामिलदेशमें इस विरोधकी लहर उठ चुकी है। हज़ारों लोग अब वेदके अधिकारोंके इच्छुक नहीं रहे। उनके मनमें वेदके प्रति प्रेमके स्थानपर अनादरका भाव पैदा किया जा चुका है। भेदकी नीति बड़े वेगसे कृतार्थ हो रही है। संयुक्तप्रान्त तथा पंजाबमें भी 'आदिहिन्दु' और हिन्दुके बनावटी भेदका प्रचार करके परस्पर द्वेष और वैमनस्यको बढ़ाया जा रहा है। समय आनेवाला है, जब कि इन शास्त्रोंके पढ़नेकी किसीके मनमें भावना भी न रहेगी। दक्षिणमें अब ऐसी सभाओंकी आयोजना होने लगी है, जिनमें जनताको इकट्ठा करके मनुस्मृतिको जलाया जाता है। उनका यह विचार है कि इस पुस्तकने ही हमें अब तक दूसरे लोगोंके चरणोंका दास बनाये रखा है । इन घटनाओंसे हमारी आंखें खुलनी चाहियें। जितना शीघ्र हो सके, इस सर्वस्व-नाशक, दासता-पोषक और दीनता-वर्धक भेद-भावके प्रचारको रोकनेका भरसक प्रयत्न करना चाहिये, पर स्मरण रखो, डंका बज चुका

है । तुम्हारे दिन गिने गये हैं । बोरिया बिस्तर संभालो । देखो, आर्यसमाज युक्तिकी चट्टानपर खड़ा प्रमाणोंके सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें इस बातको प्रत्यक्ष सिद्ध कर रहा है कि वेद मनुष्यमात्रके लिये हैं । प्रत्येक आर्य तब तक आर्य है, जब तक वेद पढ़ता पढ़ाता और सुनता सुनाता है ।

७. प्रभुने एक ओर सूर्य और चन्द्रमा, जल और पवन मनुष्यके उपकारार्थ रचे और दूसरी ओर वेदामृतका पान कराया । क्या किसी राजाके वशमें है कि शूद्रके घरसे वायुको अर्धचन्द्र देकर बाहिर निकाल दे, तो क्या वेद प्रचारका तिरस्कार ही अपने उन्मत्त अभिमानको शान्त करनेका एक मात्र प्रतीकार सूझा है ? खूब !

८. वेद ज्ञानरूप है । योग्य ही इसे समझेगा और पवित्र होगा । हमारा क्या अधिकार है कि विना परीक्षा किये किसी अमृतपुत्रको अन्दर जाने और परीक्षामें बैठनेसे रोकें । यदि शूद्र अनधिकृत है, तो उसे बुद्धि क्यों मिली यदि एक व्यक्ति शिल्पी कलाविद्, वकील, इञ्जनीयर, डाक्टर और जज हो सकता है, तो वेदपर ही क्यों ताला लगाते हो ? यदि यह कहो कि शूद्रका ब्राह्मणादिके धर्मसे क्या सम्बन्ध ? तो, भाई ! शूद्रके तपको दूसरे लोग क्यों पढ़ें ? बस, यही तो चाहते हो । वेद सबके लिये बन्द करदो । प्राचीन मर्यादाके बिगड़नेका भय दिखाकर, इस अन्याय और अत्याचारकी पुष्टि न करनी चाहिये । सुनिये और सोचिये । आप तो कदाचित् अपना इतिहास भी भूल गये । हनुमान् कौन था शूद्र कि गौड ब्राह्मण ? परन्तु आपके पुराने आचार्योंने उसे वेद पढ़ाया था ।

देखो, रामायण किष्किन्धा काण्ड, ३ । ८ में क्या सुन्दर परिचय मिलता है।

"नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥"

अर्थात् उसके भाषणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि उसने किसी योग्य गुरुके चरणोंमें बैठकर, वैदिक विद्याका अभ्यास किया है।

९. पराशर और वसिष्ठ किस अवस्थासे उठकर ऋषि बने और साक्षात् धर्मके द्रष्टा हुए ? लीजिये, भविष्य पुराणके ब्रह्मपर्वका पाठ तो कीजिये।

"श्वपाकीगर्भसंभूतः पिता व्यासस्य पार्थिव ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम् ॥
गणिका गर्भसंभूतो वसिष्ठश्च महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम् ॥"

अर्थात् वे क्रमसे चण्डाली और गणिकाके पुत्र थे। परन्तु अपने तपोबलसे उन्होंने ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया।

१०. छान्दोग्योपनिषदूमें परिचारिणी जाबालाके पुत्र ऋषि सत्यकामको आप तो कभी न कह सकते "समिधं सौम्याहरोप त्वा नेष्ये" । अर्थात् हे प्रिय ! समिधाको ले आ। मैं उपनयनकर तुम्हें अपना शिष्य बनाता हूं। ऐतरेय ब्राह्मणमें कवष ऐलूषका चरित्र अब्राह्मण और जुआरिया लिखकर फिर स्वीकार किया है कि वह भी अपने परिश्रमसे ऋषि होगया। अब कहो पुरानी मर्यादा क्या थी ?

११. जो द्विजन्मा होकर अधर्मी होजावे, उसे 'व्रात्य' कहते हैं। तुम्हारे हिसाबसे तो उसकी परची कट चुकी। परन्तु सब धर्म शास्त्र और सूत्र ग्रन्थ पुनः वेद पद ऊपर उठनेके लिये उसे मार्ग देते हैं । ताण्ड्यमहाब्राह्मण, १७ वें अध्यायके प्रथम ४ खण्डोंमें यह शुद्धिका प्रकरण सविस्तर पाया जाता है । आश्वलायन श्रौतसूत्र, ९. ८. २५, में और कात्यायन श्रौत सूत्र, २२, १२३—१५० में, यही विषय है। इसी प्रकार अथर्ववेदके काण्ड १५ की भूमिकामें सायणके शब्द पढ़ने योग्य हैं। चौथे वर्णकी स्तुति करता हुआ वह कहता है, "यह वचन (अथर्ववेदोक्त) किसी महाविद्वान्, महाधिकार, पुण्यशील, विश्वसंमान्य, कर्मपरायण ब्राह्मणों द्वारा द्वेष किये गये व्रात्यको लक्ष्य करके कहा गया है ।" यदि यह विशेषण पतितोंके हैं, तो प्रभु हमें ऐसा व्रात्य ही बनाये रखे। तनिक ब्राह्मपुराण ५३, २२३ पर दृष्टिपात करलें, ताकि आपको फिर वेदका वास्तव निर्णय भी सुनाया जावे।

"शूद्रोपि आगमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः"

अर्थात् वेद पढ़ा शूद्र भी संस्कृत होकर द्विज होजाता है। क्या किसी व्याख्या अथवा टीकाकी अपेक्षा है ?

१२. वेद तो चाहता है कि सम्पूर्ण जनता वेद पढ़ने वाली हो। जो नहीं पढ़ता, उसकी निन्दा और जो पढ़ता है, उसकी स्तुति ऋग्वेद १०. ७१ में पढ़ो । वेद मनुष्यके दो भेद वर्णन करता है, आर्य और दस्यु, दास अथवा शूद्र । आर्य वेदोक्त मार्गपर चलते हैं और दूसरे उलटे ही रहते हैं। परन्तु

वेद "कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्" इन शब्दोंसे प्रकट कर रहा है कि यह भेद मिट जाना चाहिये। भला, विना वेद पढ़े दस्यु आर्य कैसे बनेगा! ऋ० १०, ७१ के "तामाभृत्य व्यदधुः पुरुत्रा" इस वाक्यपर सायण भी तो यही बात कहता है कि वेद सर्वत्र सब लोगोंमें फैलाया गया। ऋ० १०, ५३, ४ में "पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्" इस वचनद्वारा सब मनुष्योंके लिये वेदामृतके सेवन करनेकी आज्ञा है। यही अर्थ निघण्टु और निरुक्तमें स्वीकार किया गया है। यही भाव ऋ० ८, ६३, ७ में पुष्ट किया गया है। "शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः" इस मन्त्रमें यजुर्वेद भी सब परमात्माके पुत्रोंको भक्ति-योगका उपदेश सुननेके लिये निमन्त्रित करता है। यजु० २६, २, तो इस विषयमें प्रसिद्ध ही है। वहां तो अपने पराये दीन, हीन, सबके लिये पावन संदेश सुननेका अधिकार बतलाया है। अतः आपको भी इस विषयमें वही मान्य है, जिसके अनुसार पुराने आचार्य निश्चय किया करते थे। देखो, श्रुति किसे अधिकार देती है—

"यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्तेन द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

(निरुक्त)

अर्थात् पवित्र, अप्रमादी, मेधावी, ब्रह्मचारी, अद्रोही, विद्याकी रक्षा करनेवाला ही अधिकारी पात्र हो सकता है। यही बात श्वेताश्वतरोपनिषद्के अन्तमें कही है।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशांताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ यस्य देवे पराभक्ति-र्यथादेवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात्, इन प्राचीन वैदिक तत्त्वोंके उपदेशका वही अधिकारी है जो संयमशील हो और अपना पुत्र वा शिष्य होनेके कारण, जिसकी वृत्तियोंका हमें पूरा परिचय हो। जो ईश्वर-भक्त तथा गुरुभक्त होगा, उस महात्मापर इन तत्त्वोंका अवश्य प्रकाश होगा।

१३. कितने स्पष्ट शब्द हैं। और होना भी ऐसा ही चाहिये। धर्म-जीवनका यदि नाम है, तो जो अपने व्यवहारको इसके योग्य बना सकेगा, उसे अवश्य यह प्राप्त होगा। यदि मनुष्य मूर्खता या अभिमानके कारण उसे अधिकार न दें, तो न सही, परमात्माकी कृपा तो उसपर है ही। प्रभु जाति-पांति नहीं पूछता। उसका द्वार सबकेलिये एकसा खुला है। जो सीढ़ीपर चढ़लेगा, वही अन्दर प्रवेश प्राप्त करेगा।

१४. चिरकालसे आर्यधर्म एक बन्द तड़ाग बन रहा था। ऋषिने इसे खोला। पादरी और मौलवी लोगोंके उपहास्य बन्द कर दिये। यह कच्चा तागा था, पर अब लोहमयी श्रृंखला है। यह कच्चा घड़ा था, अब वज्रके सदृश है। इसका रहस्य आर्य समाजकी शिक्षा है और उसका मर्म वेदप्रचार है।

१५ आर्यवृन्द! इन विचारोंसे सहानुभूति प्रकट करनेका मार्ग यही है कि वेदको सर्वसाधारण तक पहुंचा दिया जावे। वैदिक साहित्यके प्रत्येक भाषामें उलथे करवाने चाहिये।

छोटे २ संग्रहोंके रूपमें इसका नित्य घरोंमें पाठ हो। ऐसी संस्थाओंका पोषण करें जहां इन भावोंमें रंगे हुए प्रचारक तय्यार हों। संगठितरूपसे कार्यकी मात्राको बढ़ानेकेलिये वैदिक धर्मके प्रचारकोंको संघका रूप धारण करना होगा। फिर यह सम्भव होगा कि अपने पूर्वजोंके उज्ज्वल इतिहासका हम भी अनुसरण करते हुए, जगत्के कोने २ में, वेदभगवान्के आशा, उत्साह, शान्ति और सन्तोषसे सने हुए सन्देशको पहुंचा सकें। प्रभुकी कृपासे वह दिन शीघ्र आवे, जब हृदयका संकोच दूर हो और इतनी विशालता पैदा हो कि सब बनावटी भेदोंके विकार स्वाभाविक एकतामें लीन होजावें।

—※:०:※—

१८—आर्यसमाज और रामोदय।

१. भारतीय गणनाके अनुसार आठ लाख वर्षसे लगातार आर्य लोग विजय-दशमी या दशहरेके दिनको मनाते चले आ रहे हैं। स्थान २ पर इस महापर्वसे पूर्वके नौ दिन बड़े पवित्र समझे जाते हैं। रामायणके इतिहासके अनुसार लोग रामलीला करते हैं। नवयुवकोंको राम, लक्ष्मण आदिके रूपमें स्वांग बनाकर विविध घटनाओंको जनताके प्रति दिखाया जाता है।

२. ऐतिहासिकोंने कुछ ऐसे प्रमाण भी ढूंढे हैं, जिनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि यह त्योहार हमारा जातीय त्योहार बना रहा है। जब भारतीय लोग अति प्राचीन कालमें पातालदेश (अमेरिका) में गये, तो वहां भी इसे मनाते रहे। इसके चिह्न इस समयतक वहांके पीरु देशमें पाये जाते हैं।

३. राम और सीताके नाम पवित्र हैं। प्रत्येक आर्य सोते जागते उनको स्मरणकर पवित्र होता है। प्रदेशको जाता हुआ या वहांसे वापिस लौटता हुआ यात्री अपने बन्धुवर्गोंसे राम २ कहकर, मानो, हृदयसे हृदय मिला लेता है। करोड़ों नर नारीका भक्ति-भाजन, यह पवित्र नाम एक प्रकारसे महामन्त्र और मुक्तिका साधन बन रहा है। महाराज रामचन्द्रके प्रतापसे उनके साथियों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा शत्रुओंका इतिहास अमर हो चुका है।

४. वास्तवमें महामुनि बाल्मीकिने ठीक कहा था कि जब तक सूर्य तथा चन्द्रका प्रकाश विद्यमान रहेगा और संसार इसी प्रकार बना रहेगा, रामायणकी पवित्र कथा भी जीवित जाग्रत रूपमें चलती रहेगी। यह कथा क्या है? यह हमारी जातीय सम्पत्ति है। हमारे परम पुनीत आर्य-जीवनके उच्च आदर्शोंकी स्मृतिको हमारे हृदयमें यह पुनर्जीवित करनेवाली है। हमारी मुरझाई हुई जीवन कलिकाओंको यह हरा भरा करनेवाली है। आलस्य तथा प्रमादके अधीन होकर निःसत्त्व हुई २ प्रजाके नस नाड़ीमें यह नये रुधिरका सञ्चार करने वाली है। यह पर्व प्रति वर्ष आता हुआ हमें चेतावनी देता हुआ चला जाता है, कि ऐ आर्यो चेतो, सोचो और समझो। तुम कहां थे और कहां आ पड़े हो?

५. पर, यहां तो मथुरा तीन लोकसे न्यारी है। अन्य जातियां अपने नेताओं और महात्माओंको स्मरणकर उनका अनुकरण करती हुई उन्नतिके शिखरकी ओर सरपट दौड़ती हुई चली जाती हैं। परन्तु मन्दभाग्यवश हम लोग इस अमूल्य

जातीय सम्पत्तिको कौड़ियोंके भाव लुटा रहे हैं। हमने पूजाके भावको ही उलटा कर दिया है। हमने जीवनके प्रत्येक विभागमें अतिका ही प्रयोग अच्छा समझा है।

६. त्याग और लम्पटता परस्पर विरुद्ध होते हुए भी हमारे हां समान रूप से आधिकार पाये हुए देखे जा सकते हैं। दया और क्रूरताकी भी यही अवस्था है। महाराज रामचन्द्र जैसे मर्यादापुरुषोत्तमकी पूजा करने वाली जातिकी भला यह अधोगति अन्यथा हो ही न सकती थी। जिनके आगे आदर्शात्मक न्याय और पराक्रमकी ऐसी मूर्त्ति सदा फिरती रहती हो, भला वह जाति जगत्में क्योंकर इतनी अपमानित हो सकती है?

७. हमने क्या किया? भगवान् रामचन्द्रको अपनी जातिसे बहिष्कृत कर दिया। वे अब राजा नहीं, पुरुष नहीं, वीर क्षत्रिय नहीं, धर्म धुरन्धर नहीं, दीन रक्षक नहीं, आदर्श पुत्र, पति तथा भ्राता नहीं! उनका सारा जीवन एक लीला है। वास्तवमें परमात्माने मनुष्यका रूप धारणकर रखा था, ताकि राक्षसवध किया जा सके। वाह २! भोली प्रजा! खूब कल्पना हुई। उस महाकालरूप भगवान्के तीव्र न्यायवज्रके सामने रावण था ही क्या? पर हमें अब शास्त्रार्थों और तर्कोंसे कुछ अभिप्राय नहीं, हमें तो यह दर्शाना है कि ऐतिहासिक रूपसे इस अति भक्ति का परिणाम क्या हुआ?

८. अब हमारे सामने सहस्रों वर्षों से धनुर्धारी राम और लक्ष्मण अपने ओजस्विरूपमें उपस्थित नहीं होते। अब तो मायावी, लीलाप्रिय भगवान्के मानव रूपको देखनेके अभि-

लाषी लोगोंके सामने सुकुमार, छोटे २ लड़कों की नन्ही २ मूर्तियां ही आती हैं। अब उनके कठोर, सुडौल शरीरको देख कर हमारे दुर्बल उरःस्थलमें झटका नहीं आता। अब वीररसका उबाल नहीं उठता। अब तो कोमलताके ही निराले हाव भावमें और नाच रंगमें समय व्यतीत होता है। अरी भोली जाति? यह क्या बात है? आज तेरे मन्दिरोंमें किस रूपमें श्री रामचन्द्र जी रहते हैं और वे थे वास्तवमें क्या? जिन बातोंके लिये उन्होंने नाम पाया, वे काम अब तू कैसे भुला रही है?

९. इस युगके महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का आर्य जगत् तथा मनुष्यमात्रपर यह बड़ा भारी उपकार है कि उन्होंने जातिसे एक प्रकारसे बहिष्कृत तथा वीररसोत्पादन और उच्चादर्शस्थापनमें असमर्थ हो चुके हुए महाराज रामचन्द्र को पुनः अपनी योग्य गद्दी पर प्रतिष्ठापित किया है। उन्होंने महर्षि व्यासके शब्दोंमें ललकार कर कहा कि राज्य निःसत्वों, बलरहितों, और आलस्यग्रस्तों को प्रथम तो मिलता ही नहीं और यदि मिलता भी है, तो चिरस्थायी और जनसुखदाई नहीं हो सकता। (महाभारथ शा० प० ८।४॥)

१०. आर्यवर! आप स्वराज्य संग्राममें पूर्णतया तय्यार होकर ही निकलें। अपनी सभ्यताके सूर्यके जीवन-प्रकाशमें विचरते हुए धर्मानुसार चलनेका प्रोग्राम बनावें। पार्टी बन्दी और धड़ा बन्दीके नशेमें पड़कर तू २ और मैं २ को छोड़ कर रामायणकी संगठनकी नीतिका सर्वत्र अनुसरण करो और न्याय युक्त नीतिको कभी भी हाथसे न जाने दो। आर्यसमाज

हो, कांग्रेस हो या हिन्दू सभा हो सर्वत्र इस बातकी कमी जड़ को खोखला करता हुई दृष्टिगोचर हो रही है। भगवान् दया करें। हम पुनः अपने वीर पुरुषोंकी पादपद्धतिपर चलनेके लिये उत्साहवान् हों और वैयक्तिक तुच्छतासे ऊपर उठ सकें।

——:o:——

१६—सभ्य उपहास।

१. उपहास? किसपर? हमारा अपने ऊपर? आर्य-सभ्योंका सभ्यतापूर्वक सारे आर्य्यसमाजपर? दिल स्वीकार करना नहीं चाहता, पर बात ऐसी ही है। दुःखभरा सन्देश है, पर कहना ही पड़ता है।

२. क्या यह निश्चित बात नहीं है कि आर्य्यसमाजका परमधर्म वेदका पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना है? विचारिये तो सही कि हम सारे इस विषयमें कितना कार्य्य कर रहे हैं। कहते हैं कि आर्यप्रतिनिधि सभाओंने एक वेदप्रचारफण्डके नामसे धन-संग्रह करके देशके कोने २ में इस परमधर्मके प्रचारका बीड़ा उठाया हुआ है। क्या कभी आपने सोचा कि उन फण्डोंमें कितना रुपया आता है और कैसे आता है? प्रथम तो बात ही यह है कि वह रुपया इतना थोड़ा होता है कि उसके द्वारा यदि कुच्छ होरहा है, तो केवल वार्षिकोत्सवोंको भुगताया जा रहा है।

३. दो दिनकेलिये अमुक स्थानपर पांच छः प्रसिद्ध व्यक्ति पहुंचकर अमृतवर्षा करके चले आते हैं और बहुधा वह

वर्षा भी उनके साथ ही न जाने कहां चली जाती है, क्योंकि वह स्थान तो सारा वर्ष ऊषर भूमिके समान ही बना रहता है । फिर वर्षके पीछे ज्वालामुखीके समान सभासदोंके हृदयमें उत्सव करनेका संकल्प पृथिवीके गर्भस्थ द्रव्यकी भान्ति उमड़ता है और वही लीला दुहराई जाती है ।

४. इससे भी बढ़कर शोचनीय दशा उन व्याख्याताओंकी कहनी चाहिये, जिनके सपुर्द यह काम लगाया गया है कि वह इसी तरह सारा वर्ष अमृतवर्षा करते फिरें । जितने संग्रहको लेकर एक उपदेशक कार्य आरम्भ करता है, अन्त तक वह उतना ही रह जावे, तब भी भला ही समझना चाहिये । इस भाग दौड़में कहां वेदपाठ और स्वाध्यायका, कहां मनन और निदिध्यासनका और कहां आसन, प्राणायाम और समाधिका समय है ? और, यह वह बातें हैं, जिनके विना हृदयमें सच्ची भक्ति उत्पन्न नहीं होती और मनुष्य केवल नीरस बना रहता है।

५. इसका परिणाम यह होता है कि बात सुनने वाले भी कोरेके कोरे ही रहते हैं और जिनकी स्वभावसे ही भक्ति तथा आत्मिक विकासकी ओर रुचि होती है वह कुच्छ दिन आर्यसमाजमें भटक कर इधर उधर किसी सम्प्रदायमें शान्ति पानेके लिये चले जाते हैं । वहां भी उन्हें सच्ची शान्ति तो मिलती नहीं, परन्तु इससे हमारा संबंध नहीं । हमें तो केवल इतना ही सोचना चाहिये कि हम स्वयं अपने साथ कितना बड़ा उपहास कर रहे हैं ।

६. यदि आर्य धनाढ्य पुरुष यह संकल्प करलें कि हम अपना सारा धन अब इस उपहासके दूर करने और

वेदोंके अच्छेसे अच्छे भाषान्तर छपवाने तथा सदुपदेश द्वारा प्रचार करानेमें व्यय करेंगे; और यदि सुपठितमण्डली यह निश्चय करले कि कीर्त्ति और यशको अभी कुच्छ काल तक दूर रखकर किसी एकान्त कोनेमें बैठकर वेदके शब्दोंका मनन तथा आत्माका विकास करेंगे और फिर पूर्ण समन्वय करके वस्तुतः परिपक्व विचार जनताको देंगे, तो सच मुच हमारा कल्याण हो जावे। जिस प्रकार आज हम इन बातोंकी अवहेलना कर रहे हैं, इस प्रकार बहुत दिन तक नहीं चलेगी। लोगोंका असन्तोष बढ़ेगा, सुलगती हुई अग्नि चमकेगी और फिर पता नहीं, सारा दृश्य हमारे लिये कैसा हो? अतः आर्यवर्ग, शान्तिसे सोचो कि आपमेंसे प्रत्येक इस पवित्र कार्यमें क्या भाग ले सकता है? तन, मन, धन और जन सभी आहुतियोंकी आवश्यकता है।

——:o:——

२०—आर्यसमाजका भविष्य।

१. आर्यसमाजके स्वरूपके विषयमें अभी तक लोगोंमें मत-भेद है। कई एक यह समझते हैं कि हिन्दुओंको सामाजिक कुरीतियोंसे मुक्त करके, बलवान् जाति बनाना ही इस का वास्तविक स्वरूप है। कुच्छ यह समझते हैं कि हिन्दुओंसे इसका विशेष कोई संबंध नहीं है। इनके विचारके अनुसार, आर्यसमाजका सब मनुष्योंसे एक जैसा संबंध होना चाहिये। कइयों की सम्मतिमें विशेष प्रकारके जीवनका प्रचार करना

ही आर्यसमाजका मुख्य उद्देश्य है। कुछ ऐसे भी हैं, जो यह चाहते हैं कि आर्यसमाजका काम कुछ निश्चित सिद्धान्तोंके मानने तथा प्रचार करनेके अतिरिक्त और कुछ न हो।

२. ध्यानपूर्वक सोचनेसे इन सब पक्षोंका अधूरापन स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। आर्यसमाजका इन सब विचारों तथा कार्य्योंके साथ कुछ न कुछ संबंध है। परन्तु किसी एकको ही मुख्यतम कह कर, इसे उसके साथ बांधनेसे इसके साथ अन्याय होगा। इस के प्रवर्त्तक, ऋषि दयानन्दने, हिन्दूओंकी बुरी रीतियोंका खण्डन करते हुए, अपने उद्देश्यको वहीं तक परिमित नहीं रखा। उन्होंने हज़ारों वर्षोंके पीछे, फिर प्रथम वार धर्ममन्दिरमें मनुष्यमात्रके समान स्वत्वों का सिंहनाद बजाया।

३. उन्होंने बतलाया कि परमात्माका शासन सब प्रजाके लिये एक जैसा कल्याणकारी है। उसके नियमोंको जान कर, उनके अनुसार अपने जीवनको ढालना सबके लिये समानरूप से आवश्यक है। इस लिये आर्यसमाज सबकी भलाईके लिये ही अपने दस नियमोंका प्रचार करता है। जो इन नियमोंको अपनायगा, वही सच्चा आर्य बन सकेगा।

४. निःसन्देह, इसका हिन्दुओंके साथ अधिक संबंध है। सब हिन्दू उन ऋषियोंकी सन्तान हैं, जिन्होंने इस धर्मके पवित्र प्रवाहको जारी किया था। यद्यपि आज इन लोगोंमें सैंकड़ों सामाजिक दोष तथा प्राचीन विचारों और मर्यादाके विरुद्ध बातें पाई जाती हैं, तो भी इनके अन्दर अपने सच्छास्त्रों, ऋषियों, मुनियों तथा राम, कृष्णादिके प्रति भक्ति

का भाव पाया जाता है। वे वेदको मानें या न मानें, समझें या न समझें, अब भी उनके संस्कार वेदके मन्त्रोंसे ही किये कराये जाते हैं।

५. इस समीपताका ही यह परिणाम है कि अभी तक हिन्दुओंने ही मुख्यरूपसे आर्यसमाजको ग्रहण किया है। अभी कुछ देर और ऐसा ही रहेगा। परन्तु ऋषि दयानन्द तथा उनके चलाये हुए आर्यसमाजका यह आवश्यक मन्तव्य है कि सारे संसारमें आर्य-जीवन तथा आर्य विचारोंका प्रचार किया जावे। हिन्दुओंमें प्रचार करना इस विशाल विश्व-व्यापी मन्दिरकी आधार-शिलाका काम देगा।

६. जब तक आर्यसमाज हिन्दुओंका सर्वसाधारण धर्म नहीं बन जाता और वे इसके निर्देशानुसार पूरे वैदिक नहीं बन जाते, तब तक शेष संसारको वैदिकधर्मके झण्डेके नीचे ले आ सकना कठिन प्रतीत होता है। कुछ आर्य सज्जन विदेश प्रचारके सम्बन्धमें आन्दोलन किया करते हैं। उन्हें निश्चय रखना चाहिये कि अभी वहां इसके लिये भूमि तय्यार नहीं है। अत्यन्त विशिष्ट प्रतिभाशालियोंको ही यह कार्य शोभा देगा। भारतीय आदर्शके अनुसार मध्यम कोटिके लोगोंको वहां कोई नहीं पूछता। इसलिये अभी हमारा कार्य वहां फल नहीं ला सकता। ऋषि दयानन्द इस रहस्यको समझते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक प्राचीन जातिके मनमें हमारे विचार पूरी तरहसे जड़ नहीं पकड़ते, तब तक दूसरोंमें जाकर प्रचारका यत्न करना, अपनी शक्तिको कदाचित् व्यर्थ क्षीण करना होगा। किन्तु सकल संसारमें प्रचारके

भावको भूलना न चाहिये। इस उत्साहदायक भावके त्यागके कारण ही आगे हमारी अधोगति हुई है।

७. इस बातकोभी भली भान्ति समझ लेना चाहिये कि कोई धर्म थोड़ेसे सिद्धान्तोंके प्रचारका नाम नहीं हो सकता। इन सिन्द्धातोंका परिणाम विशेष प्रकारका जीवन है। इसमें प्रभु-भक्ति परोपकारका स्वभाव विद्यासे प्रेम, परस्पर प्रीति आदि गुण उत्कटरूपमें पाये जाते हैं। सिद्धान्तोंके प्रचारके साथ इन बातोंका प्रचार करनाभी आवश्यक है। अपने उदाहरणसे इन दिव्य गुणोंमें जनताकी श्रद्धा पैदा करना, एक प्रकारसे धर्म-प्रचारका सार है।

८. यह संभव है कि लोगोंका मस्तक हमारी बातोंकी सत्यताको मान जावे, परन्तु जब तक उनका हृदय हमारी बातोंको ग्रहण नहीं करता, तब तक हमारा धर्म उनके अन्दर नहीं जा सकता। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि हम स्वयं अपने धर्मको धारण करलें। क्या हम ईश्वरको सर्वव्यापक और पापोंका दण्डदाता मानते हैं? क्या हम व्यवहाररूपमें स्वार्थकी अपेक्षा उपकारको श्रेष्ठ समझते हैं? क्या हमें विश्वास है कि प्रभु-भक्ति सब दुःखोंको हरने वाली है? क्या हम ईर्ष्या, द्वेषादिको दिलसे पाप समझते हैं? हमें इन प्रश्नोंका उत्तर मस्तकसे नहीं, वरन् हृदय और आचरणसे पूछना होगा। यदि यह उत्तर भावरूप हैं, तो निश्चय है कि आर्यसमाजके सिद्धान्त सर्वत्र विस्तृत होकर, सर्वप्रिय हो जावेंगे।

९. इन विचारोंके अन्तर्गत सिद्धान्तों तथा इनके फल रूप शुद्ध व्यवहारों तथा भावोंका नाम ही आर्यधर्म हो सकता

हैं। इसके अतिरिक्त, कई प्रकारके चले चलाये हुए विचार, सम्प्रदाय तथा मत कहे जा सकते हैं। मत और धर्ममें भेद यह होता है कि मत मानी हुई बातको कहते हैं और धर्मका सम्बन्ध धारण करनेसे है। मतमें बुद्धि मुख्य है और धर्मका आधार हृदय होता है। धर्म सबका एक होना चाहिये और आदर्श रूपमें हो भी सकता है। मतोंमें सदा भेद रहा है और आगे भी रहेगा। मत भेद सोचने वालोंकी स्वतंत्रताका जहां निशान है, वहां उनकी अपूर्णताको भी प्रकट करता है। बहुधा मत-भेदका कारण विचारकोंका एक ही पदार्थके भिन्न २ विभागोंकी दृष्टिसे विचारको उठाना हुआ करता है। हम एक साथ सृष्टिके सब विभागोंको बुद्धिमें स्थिर नहीं कर सकते, अतः हमारे परिणाम कुच्छ ठीक और कुच्छ उलटे होजाते हैं।

१०. मत-भेद उस समय तक दूर नहीं हो सकता, जब तक हमारी सबकी बुद्धि आदर्श-रूप विकासको प्राप्त करके सामष्टिक एकताको धारण नहीं कर लेती। परन्तु ऐसा समय कब आवेगा और कि आवेगा भी या नहीं, इस विषयमें कुच्छ निश्चय नहीं। इस लिये आर्य धर्ममें भले अनेक मत चल पड़ें, किसी हानिकी आशंका न करनी चाहिये, पर तभी तक जब तक कि उन्हें एक सूत्रमें पिरोये रखना असंभव न हो जावे। यह सूत्र आर्य समाजके विश्वव्यापी नियमोंके रूपमें है। यही आर्य समाजका मूल है और इन्हींसे इसका असली स्वरूप सिद्ध होता है। जब तक कोई व्यक्ति इन नियमोंके तात्पर्यार्थसे इतना दूर न निकल जावे कि उसका ईश्वर-विश्वास, वेद-भक्ति तथा सामाजिक संगठनके साथ

कोई आदरणीय सम्बन्ध ही न रहे, तब तक उसे आर्य ही समझना चाहिये ।

११. यह ऋषि दयानन्दकी अद्भुत बुद्धिका चमत्कार है कि उन्होंने इन सार्वजनिक नियमों तथा अपने व्यक्तिगत विचारों और परिणामोंको अलग २ रखा है । सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ हमारे आचार्यके इन भावोंका व्याख्यान रूप हैं । उन्होंने सब आर्योंके लिये जिन नियमोंका उपदेश किया, उन्हें स्वयं भी अपने जीवनमें धारण किया । वेदादि शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक अध्ययन करके, उन्होंने कुछ विचारोंको निश्चित किया और उन्हें संसारमें फैलानके लिये वाणी तथा लेखनीकी शक्तियोंका पूरा प्रयोग किया । आप ऋषि, योगी, व्याकरणादि विद्याओंके सूर्य और सर्व शास्त्रोंके वक्ता थे । किन्तु परमात्माकी भान्ति सर्वज्ञ नहीं थे । केवल भगवान् ही भूलसे मुक्त है । जब मनुष्यके विचारोंका आधार, उसके शास्त्रीय ज्ञान और स्वाभाविक तर्क-बल हों, तो क्या यह संभव नहीं कि इन्हीं साधनोंका उपयोग करता हुआ दूसरा मनुष्य किसी २ अंशमें भिन्न २ परिणामोंपर पहुंचे ।

१२. इस सीधी बातको न मानना हठधर्मीमें शामिल होगा । स्वामीजीने स्वयं जिस अंधविश्वास, सत्यवचनियापन और मिथ्या गुरुडमका इतना बलपूर्वक खण्डन किया, उसीका पुनः प्रचार करना होगा । उन्होंने शास्त्रोंके प्राचीन भाष्योंको पढ़ कर, स्वतन्त्र तर्कसे उनकी परीक्षा की । किसी बातको माना और किसीको मिथ्या भी बतलाया । स्वयं दीनतासे ऊपर उठे हुए, उस स्वतन्त्रताके पुजारीने सारे संसारको इस

बहुमूल्य सम्पत्तिका दायाद बनाया । उनका कभी यह मन्तव्य नहीं हो सकता था कि मेरे अनुयायी मेरे प्रत्येक शब्दको पत्थरपर लकीर समझकर पूजें । न ही उन्हें यह कभी पसन्द हो सकता था कि जिसे लोग दिलसे मानते हों और न बुद्धिपूर्वक समझ समझा सकते हों, केवल उनके नामकी आड़में भिन्न मति रखने वालोंको अपमानित करनेकेलिये प्रयुक्त करें। सत्य वही है, जिसे आत्मा ठीक २ समझ कर स्वीकार करले। इस सत्यको ग्रहण करना उन्होंने प्रत्येक आर्यका कर्त्तव्य बतलाया है । इससे अन्यथा मानना या व्यवहार करना, दम्भ, अन्याय और आत्महानिका पर्याय होगा।

१३. प्रत्येक आर्य विद्वान्का कर्त्तव्य है कि वह ऋषि दयानन्दमें पूर्ण गुरुभक्तिको धारण करे। उनके बताये हुए जीवन-मार्गका अनुसरण करता हुआ, उनकी प्रत्येक धारणाको श्रद्धा-पूर्वक तर्ककी कसौटी पर परखे । इस मार्गपर चलते हुए पता चलता है कि अभी बहुतसे झाड़ झंकार परे हटाने शेष हैं। इसे सीधा करना और कहीं २ मोड़ना भी आवश्यक होगा । और यही कार्य है, जिसे आर्यविद्वान् ठीक रीतिसे पूर्ण करके ऋषि दयानन्दके आत्माको सन्तुष्ट कर सकते हैं । जो कारीगर, पहिला नमूना तय्यार करता है, वह नेता कहलाता है । इसमें उसका महत्त्व और चमत्कार पाया जाता है कि वह जंगलमें मंगल तथा अभावमें भाव कर देता है, परन्तु जो योग्य विद्वान् उसके पीछे आते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि उस नमूनेसे लाभ भी उठावें और उसे संवार कर अधिक सुन्दर तथा उपयोगी भी बनाते चलें। संशोधनकी कभी समाप्ति नहीं होती।

१४. अब तनिक शंकास्पद भूमि पर पांव रखा जाने लगा है। भय होता है कि कदाचित् कोई २ सज्जन, मेरे हृदयके भावोंको ठीक २ न समझ कर मेरे माथेपर नास्तिकताका कलंक भी लगानेमें संकोच न करे। पर फिर भी मेरा आत्मा किसी आन्तरिक प्रेरणासे विवशसा हुआ २ लेखनीको इधर ही धकेलता है। भले कोई इससे चौंक पड़े। यह चौंकना वैसा ही होगा, जैसा एक पीपसे भरे हुए फोड़पर निश्तर मारनेसे होता है। जब तक चौंकनेवालेकी भलाई ही लक्ष्य है, तब तक ऐसा करनेसे घबराना उलटी कायरता और अनार्यता होगी। यही ऋषि दयानन्दके जीवनकी सर्वोच्च शिक्षा है। इसीमें आर्यत्वकी महिमा है।

१५. स्वामी जीने अपने शास्त्रीय मननसे यह परिणाम निकाला कि प्रभुने सृष्टिके आरंभमें चार ऋषियोंके हृदयमें वेदोंको प्रकाशित किया। इस घटनाको हुए २ लग भग दो अरब वर्ष बीत चुके हैं। भिन्न २ शाखाएं वेद नहीं हैं, वरन् वेदों की व्याख्याएं हैं। वेदोंमें विधवा-विवाहका विधान नहीं है। यह प्रथा समाजके लिये हानिकारक है। आपत्कालमें नियोगकी प्रथा वेदविहित होनेसे धर्मानुकूल है। इसी प्रकार और बीसियों बातें उदाहरणार्थ ली जा सकती हैं।

१६. अब प्रश्न यह है कि युग युगान्तर और लोक लोकान्तरमें, इन बातोंके विषयमें अक्षरशः यही सम्मति रखनेसे ही एक व्यक्ति आर्यसमाजी हो सकेगा, या कि उसे विचार-पूर्वक स्वतंत्र सम्मतिका भी अधिकार होगा? उसे प्रभुने बुद्धि किस लिये दी है? इसका उपयोग गुरुवचनोंका अनुवाद करनेमें

ही होगा या भाष्य करते हुए, आवश्यकताके अनुसार समालोचना करनेमें भी होगा ? क्या चारके स्थानपर यदि वह अनेक ऋषि मान लेगा, तो आर्यसमाजकी वाग डोर संभालने वाले उसे धक्का देकर वाहिर निकाल देंगे ? क्या शाखाओंको मूल वेदके पाठान्तरोंके साथ मिली हुई अन्य सामग्री मानने वालेको सामजसे धक्का दे दिया जावेगा ? क्या परमाणु-संघटन और वेदोत्पत्तिको समकाल न समझने वाला आर्यसमाजसे पृथक् कर दिया जावेगा ? क्या वेदके किसी मंत्रसे विधवा-विवाहका प्रचार करने वाला विद्वान इस लिये दुत्कारा जावेगा, कि स्वामी दयानन्दजीने उसे नियोगपर लगाया है ? क्या संध्याका या दूसरे मन्त्रोंका स्वामीजीसे भिन्न, परन्तु स्वर संस्कारका विचार करके अर्थ करने वाला विद्वान,नास्तिकताकी काल कोठरीमें डाल दिया जावेगा ? क्या अन्य विषयोंमें स्वामीजीसे अलग मत रखने वाले विद्वानोंको उनकी चरण-वन्दनासे हटा दिया जावेगा ? क्या उनकी ईश्वर भक्ति, वेद-भक्ति और ऋषि-भक्तिको पांव तले रौंदा जावेगा और उन्हें अपने भाइयोंका भाई बन कर रहनेका अवसर न दिया जावेगा ?

१७. कहीं २ से इन प्रश्नोंके उत्तरमें क्रूरताके साथ 'हां' की भयानक, और घृणित ध्वनि सुनाई देती है। हृदय कांप उठता है। सारा भविष्य अन्धेरेसे युक्त देख पड़ता है। ऋषिवरके मोटे २ आंसु ओलोंकी नाईं बरसते हुए प्रतीत होते हैं। प्रभो ! यह दुरवस्था इन आंखोंसे न देखनी पड़े। हम भले अकाल मृत्युसे मर जाएं, पर अपने पूज्य गुरुकी बाड़ीको इस तरह उजड़ता हुआ न देखें।

१८. दो बातें एक साथ नहीं रह सकतीं। एक ओर तो चिल्ला २ कर कहें कि आर्यसमाज मत अथवा सम्प्रदाय नहीं, वरन विशालधर्म है और दूसरी ओर पांच सात बातोंको विशेष प्रकारसे मानने या न माननेमें ही आर्य और अनार्यका भेद गुप्त समझें। मुख्य और गौणमें विवेक करनेसे, प्रत्येक छोटी मोटी बातको मुख्य ही समझकर हम अति शीघ्र थक जावेंगे। ऐसा करनेसे स्वतन्त्र विचार दब जाता है। विद्याका नाश होता है। अज्ञान और अधर्मकी वृद्धि होती है। सरलताका व्यवहार कम होजाता है। हृदय खोल कर, विश्वास पूर्वक बात करनेका स्वभाव नष्ट होजाता है। एक व्यक्ति दूसरेके प्रति बंद संदूककी नाईं होजाता है। ऐसे दबे हुए वायुमण्डलमें आसुरी सृष्टि ही फूलती और फलती है। दिव्य विचार और दिव्य स्वभाव पंख धारण करके उड़ जाते हैं।

१९. यह वही दोष हैं, जिनका आर्य समाजकी वेदीपर सदा खण्डन होता है। कोई आर्यसमाजी इन्हें अपने घरमें मौजूद माननेको तय्यार न होगा। उसे इनकी सत्ता संसारके सब पन्थोंमें अच्छी तरह दिखाई देती है, पर अपने हां उसकी दृष्टि काम ही नहीं करती। अभी आर्यसमाज इतना बूढ़ा नहीं होगया, कि इसे समीपवर्ती पदार्थ कम दिखाई दे, पर अवस्था कुच्छ ऐसी हो रही है। यदि कोई इस लेखमें अत्युक्तिकी आशंका करता हो, तो उसे शीघ्र ही अपनी भ्रान्तिका निश्चय हो जावेगा। अपने इष्ट मित्रों, अध्यापकों, विद्वानों, पण्डितों, प्रचारकों; नेताओं और विचारकोंका दिल लेनेका यत्न करते ही उसे यह रोना सार्थक प्रतीत होने लगेगा। उसे कदाचित् यह विश्वास होजावेगा कि आर्य लोग इस

समय एक ऐसे ज्वालामुखी पर्वतपर उद्यान और वाटिकाएं लगाकर आनन्द मना रहे हैं, जो शीघ्र ही फटने वाला है। इसी निश्चयकी सहायतासे एक दो और बातें भी पूरी तरह समझमें आजाती हैं।

२०. आरम्भमें जब आर्यसमाजका प्रचार हुआ, तो क्यों योग्यसे योग्य सज्जन, जिनका चित्त प्राचीन सभ्यताकी ओर झुका हुआ था, इसकी शरणमें आये? और क्यों ज्यों२ विद्याका प्रचार अधिक हुआ है, जिसमें आर्यसमाजका अपना सबसे बढ़कर भाग है, उस कोटिके लगनवाले लेखक, व्याख्याता, और विचारक प्रतिवर्ष कमही कम हो रहे हैं? क्या इस बातसे यह पता नहीं चलता कि आर्यसमाजमें उच्चकोटिकी स्वतन्त्र बुद्धिवालोंकेलिये आकर्षण कम हो रहा है। दूसरी बात यह है कि क्यों बड़े २ पुराने सेवक विचारशील और अनुभवी आर्यसमाजी ढीले होकर परेही परे जा रहे हैं? राजनैतिक आन्दोलनकी वृद्धि, प्राकृतिक स्वार्थका भाव तथा सांसारिक झमेलोंको भी कुच्छ अंशमें इन बातोंका कारण कहा जा सकता है, पर केवल यही बातें इन त्रुटियोंकेलिये उत्तरदायी नहीं हो सकतीं। यह मानना पड़ता है कि आर्यसमाजकी वर्त्तमान नीतिमें कुच्छ बिगाड़ है। जब यह विज्ञानका धर्म है, देशोन्नतिका पोषक है और सार्वत्रिक शान्तिका सन्देश सुनानेवाला है, तो क्यों न विद्याकी वृद्धिके साथ आर्यत्वकी भी वृद्धि हो? यदि आर्यसमाज अपने असली स्वरूपको स्थिर रखे, तो क्यों पढ़ेलिखे लोगोंको यह एक संकुचित सम्प्रदायके रूपमें दिखाई दे? यदि हमारी नीति सर्वथा ठीक है, तो भी इस बातका पूरा

प्रयत्न करना होगा कि विद्वानोंके सामने इसे ठीक प्रकारसे रखने वाले, पूर्ण श्रद्धालु और उच्च कोटिके विद्वान् इसकी नौकाके कर्णधार बनें।

२१. तो क्या बड़े २ सम्मेलनोंको रचानेवाली सभाओं और संस्थाओंके संचालक इन बातोंपर कुछ विचार करेंगे? क्या कोई नेता आर्यविद्वानोंको इन प्रश्नोंपर प्रकाश डालनेकेलिये प्रेरित करेगा? यदि ऐसा न हुआ, तो सचमुच आर्यसमाज एक ऐसे सामाजिक संगठनके रूपमें रह जावेगा, जो हिन्दुओंमें विद्याका प्रचार करता है और समय २ पर भिन्न २ प्रकारकी सामाजिक सेवाओंका प्रबन्ध करता है। दूसरे शब्दोंमें, आर्यसमाज तो होगा, परन्तु अधूरा होगा। शनैः२ जिन सिद्धान्तोंका अब कहीं २ नाम तो लिया जाता है, वे उपेक्षाकी दृष्टिसे, देखे जावेंगे। उनके मनन करने वाले कम होजानेसे, न मतही रहेगा और न मत-भेद होगा। इसका नाम जीवन नहीं है। इसलिये अभीसे इस अनिष्टको रोकना चाहिये। शास्त्रीय विद्याकी उन्नति करके, स्वतन्त्र विचारको पूरा विकसित होने दो। बढ़ते हुए विज्ञानको अपने धर्मका अंग समझते हुए, जहां २ सुधारकी अपेक्षा प्रतीत हो, वहां विना झिझकके वैसा करदो। भूलसे अशुद्धि होजाना पाप नहीं है। किन्तु अशुद्धिको जानते हुए, दबाए रखना और ठीक करनेका साहस न करना अवश्य पाप है। अब यह निश्चित बात है कि शुद्ध धर्म और पापका सहवास नहीं होता।

२२. जहां आर्यवर्ग इस ओर बढ़ेंगे, वहां उनके हृदयका भाव भी जाग उठेगा। दलितोद्धारक और धर्मप्रचारक हज़ारोंकी

संख्यामें ग्राम २ पहुंचेगे। उनके पवित्र चारित्रका वहां प्रभाव होगा और जनता चिरकाल तक उन्हें रो २ कर स्मरण किया करेगी। नर हो या नारी, वृद्ध हो या युवा, इन शब्दोंको ध्यानसे सुनें। जो कुच्छ सद्गुरु दयानन्दको रिझानेकेलिये किया गया है, उसे स्मरण करें और जो अब करना है, उसका संकल्प करें। सामाजिक ऊंच नीचके भाव, विधवाओंकी पुकार और दलितोंकी मन्द दशा, ये सब धर्मके अभावके लक्षण हैं। इनका इलाज ऐसी मर्यादाका स्थापित करना है, जिसमें अविद्या पाप समझी जावे और अन्यायके प्रति घृणा की जावे। इसे स्थापित करना कठिन है, पर यही आर्यसमाजका परमध्येय है। यदि आर्यनेता और प्रजा मिलकर इस मर्यादाकी संस्थापनाके लिये, ग्राम २ और नगर २ में उचित प्रबन्ध कर सकें और ऐसा करनेकेलिये तन, मन, धन और जन न्योछावर करनेपर कटिबद्ध हो जावें, तो निःसन्देह आर्यसमाजका भविष्य अनभ्र गगनकी नाईं निर्मल और मध्याह्न सूर्यकी भान्ति उज्ज्वल होगा।

——:*:——

२१—आर्यधर्मका विज्ञानप्रेम

१. साधारण लोग धर्म और विज्ञानको पृथक् २ समझते हैं। उनके विचारमें, चुम्बकके सिरोंकी नाईं, वे कभी इकट्ठे नहीं हो सकते। उनके मनमें धर्मके स्वरूपका विचित्र ही चित्र बना रहता है। वे समझते हैं कि कुछ परिमित बातोंका, जिन्हें धार्मिक सिद्धान्त कहते हैं, नाम धर्म है। प्रत्येक धार्मिक

मनुष्यके लिये इन बातोंमें विश्वास करना अनिवार्य होता है। वही मनुष्य वस्तुतः धार्मिक होता है, जो किसी अवस्थामें भी पुरानी चली आ रही मर्यादाको नहीं तोड़ता। इस मर्यादा और धार्मिक रीतिरिवाजों तथा सिद्धान्तोंकी विद्याको पुरोहित और पुजारी जीवित रखते हैं। इन प्राचीन दशाके संरक्षकोंका यह स्वभाव हो जाता है कि वे किसी प्रकारके नये विचारका स्वागत नहीं कर सकते। इस प्रकारके धर्ममें रुचि न रखने वालोंकी स्वतन्त्रता पग २ पर उन्हें खटकती है।

२. दूसरी ओर, विज्ञान विशेष प्रकारसे अच्छी तरह जाननेका नाम है। इसे सर्वदा नये क्षेत्रोंमें अन्वेषण करके नई २ बातोंके मालूम करनेकी उत्सुकता लगी रहती है। ज्ञातसे अज्ञातकी ओर बढ़नेकी ही घोषणा सदा इसकी जिह्वापर नाचती रहती है। पुरानी बातोंको गिराने और नये सिरेसे ढांचा खड़ा करनेमें इसे आनन्द आता है। इसे भय और संकोचका अर्थ ही नहीं आता। यह तो एक ही धमक्केसे अज्ञातके अन्धेरे गढ़ेमें कूदना चाहता है। शनैः २ और बड़े परिश्रमके पश्चात्, इसे पांव रखनेकेलिये आधार मिल जाता है। बस, फिर यह कांटों और झाड़ियोंको काट २ कर मार्गको शुद्ध और विस्तृत करनेमें लग जाता है। संदेह और परीक्षा इसके सर्वोत्तम गुमाशते हैं। निदान, पुरानी मर्यादाओंका उल्लंघन करने तथा दृष्टिको विस्तृत करनेके लिये यह सदा चिन्तातुर रहता है। इस लिये, परिवर्त्तनके वैरी और लकीरके फ़कीर धर्मके साथ इसका सदासे विरोध चला आता है।

३. इन विचारोंका आधार पश्चिमी धार्मिक इतिहासमें पर्याप्त रूपसे मिल जाता है। ईसाईमत यहूदी मतकी सन्तति है। इसके अन्दर बहुतसे पुराने विश्वास इस प्रकारके हैं कि उनमें सबकी श्रद्धाका होना असंभव है। विशेष करके, सृष्टिकी उत्पत्ति तथा परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो विचार दिये गये हैं। वे अत्यन्त अधूरे और असंगतसे हैं। उनकी उत्पत्ति ऐसी परिस्थितिमें हो सकी होगी, जिसमें चिरकाल तक वैज्ञानिक प्रकाशका प्रवेश न हो सका हो।

४. आजसे बहुत थोड़ा समय पूर्व तक, पश्चिममें यह अवस्था रही है कि जब कभी किसी विद्वान्के हृदयमें किसी बातका प्रकाश हुआ, जो पन्थके अध्यक्षोंके मन माने विचारोंके प्रतिकूल हो, तो उसे बाधित होकर या प्राण देने पड़ते थे और या विचार की स्वतन्त्रता का बलिदान करना पड़ता था। इस प्रकार कितने ही दार्शनिक तथा वैज्ञानिक अनुभवी विद्वान् काल कराल कोठरियों में सड़ते रहे और कितने ही मौतके घाट उतार दिये गये।

५. मध्य कालीन पादरियोंकी कचहरीका नाम सुन कर अब भी भय सा प्रतीत होने लगता है। यदि पश्चिमने कला, कौशल और विज्ञानमें अब आकर अद्भुत विकासको प्राप्त किया है, तो यह विश्वास रखना चाहिये कि पादरियोंके विरोधकी परवाह न करके ही ऐसा हो सकता है। यदि पादरियों की राजनैतिक शक्ति दब या मर गई होती, तो अब भी कुच्छ न हो सकता। यह ठीक है, कि इस समय यह उप-हास सा प्रतीत होता है कि किसीको केवल पृथिवीको चपटा

न मानने और गोल सिद्ध करनेकेलिये ही कड़ी से कड़ी यातना सहनी पड़े। परन्तु पन्थके स्वरूपमें अभी तक कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ।

६. थोड़ा ही समय हुआ कि अमेरिकाके संयुक्त देशके एक प्रान्तमें एक अध्यापकको इस लिये तंग किया जा रहा था कि उसने अपने विद्यार्थियोंको वर्त्तमान विकासवाद के सिद्धान्त की शिक्षा दी थी। प्रान्तीय राज्याधिकारियोंने इस शिक्षाको धार्मिक विचारोंका विरोधी समझ कर, उसपर अभियोग खड़ा किया और वैज्ञानिक स्वतन्त्रताके युगमें मध्य-कालीन अन्धकारका परिचय दिया। और ठीक इस समय इंग्लेण्डमें बरविंघमके पादरीने अपने साप्ताहिक उपदेशोंमें कई मिथ्या विश्वासोंका खण्डन करके, जनताके पर्याप्त भागको अपने विरुद्ध खड़ा कर लिया है। पादरी इस बातका प्रयत्न कर रहे हैं कि उसे पन्थसे बहिष्कृत कर दिया जावे। निदान सामाजिक परिस्थिति बदलनेके कारण अब अधिक अत्याचार नहीं हो सकता। नहीं तो, पन्थके स्वभावमें अभी बहुत परिवर्त्तन नहीं हुआ।

७. विद्याकी बढ़ती बाढ़को इस प्रकार रोकनेमें इसलाम भी ईसाइयतका अच्छी तरह अनुकरण करता रहा है। ईश्वरीय पुस्तकमें इसका विश्वास इतना अटूट रहा है, कि इसके होते हुए, अन्य किसी पुस्तकके रहनेका अधिकार भी संशयास्पद होता रहा है। यदि अन्य पुस्तक ईश्वरीय पुस्तक के अनुकूल हों, तो उसके होते हुए, वे अनावश्यक हो जाते हैं। यदि वे विपरीत हों, तो वे नास्तिकतासे भरे

हुए होनेके कारण नाश करने योग्य हो जाते हैं । कितने ही बहुमूल्य पुस्तकभण्डार इस विचित्र युक्तिके आधारपर आनन्द-पूर्वक आगकी भेंट किये गये ।

८. कितना भयंकर अत्याचार है ! कितना कठोर और निर्दय भाव है !! क्या अच्छा होता कि वे एक पल भर ठहर जाते और विचार करते कि ग्रन्थकारको कितना परिश्रम करना पड़ता है और उसके मनमें क्या २ आशाएं हुआ करती हैं । इसलामने जब भी विद्यासे प्रेम प्रकट किया है, वह इसलामी विद्यासे हुआ है । इसका भाव यह है कि इस प्रेमका रहस्य भी इसलामकी दृढ़ता है । इन बातोंका जब हम विचार करते हैं, तो पश्चिम विचारकोंके इस निश्चयमें कोई आश्चर्य नहीं होता कि धर्म तथा विज्ञानका भी परस्पर साथ नहीं हो सका ।

९. परन्तु विज्ञान-रसिक सज्जनोंको कितना आनन्द होगा, जब उन्हें पता लगेगा कि वैदिक धर्म उनके परिश्रम तथा कार्यकी कदर करता है । वेद शब्दके तात्पर्य्यपर विचार करनेसे ही भेद खुल जावेगा । जहां दो प्रसिद्ध तथा बहुमान्य ईश्वरीय ग्रन्थों, अर्थात् कुरान और बाइबलका अनुवाद पुस्तक शब्दसे हो सकता है, वहां वेद शब्दका धात्वर्थ ही विद्या अर्थात् विज्ञानसे जा मिलता है । इसी प्रकार मज़हब अथवा मत आदि शब्दोंको धर्मके शब्दसे अलग ही रखना चाहिये । इन शब्दोंका आशय सिद्धान्तों तथा निश्चित कुच्छ कर्मकाण्डकी परिधिमें ही घूमता है । परन्तु धर्म से उन सब परिणामोंका ग्रहण होता है, जिनके आधारपर हम सब प्रकारसे लौकिक और पारलौकिक परम विकासको लाभ कर सकते हैं ।

१०. आत्मिक, मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक नियमोंको भली भान्ति जान कर उनके अनुसार व्यवहार करनेसे ही जीवनमें सफलता प्राप्त हो सकती है। इन नियमोंको जानना और इस जाननेके आधारपर, आत्मा और अनात्मामें, नित्य और अनित्यमें, विद्या और अविद्यामें तथा पवित्र और अपवित्रमें ठीक २ विवेक कर सकना ज्ञान-मार्ग या ज्ञान-काण्ड कहलाता है । कर्ममार्ग या कर्मकाण्डसे हमारा तात्पर्य उस मात्रा और परिमाणसे है, जिसके साथ हम ज्ञानमार्गका अवलम्बन करके प्राप्त किये हुए आत्मिक विकासके अनुकूल अपने कर्म तथा व्यवहारको प्रति दिन ढालते चले जाते हैं । वास्तविक धर्मके स्वरूपके ये दो ही मुख्य विभाग हैं । सदा विकसित होते हुए ज्ञानका अनुसरण करता हुआ कर्म, धर्मको मिथ्याविश्वासों और कपोल-कल्पित विचारोंके गढ़में गिरनेसे बचाए रखता है ।

११. कर्मात्मक जीवनके दो चक्र हैं। आन्तरिक चक्रके अन्दर घूमनेसे हम शनैः २ समाजमें और पीछे विश्वमें लीन होना सीखते हैं। वैदिक ऋषियोंने इस लक्ष्यको पूर्णतया प्राप्त करनेके लिये, साधनके रूपमें पांच यमोंका वर्णन किया है । १. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह ।

१२. अहिंसाका आशय यह है कि हम मन, वचन और कर्मसे किसीका अनिष्ट न करें । जहां तक बन पड़े, सकल प्राणियोंका हित किया करें । ईर्ष्या, द्वेष और वैरका मूलसे उखाड़ फैंकना इस सिद्धिका परिणाम होगा । सत्यका भाव यह है कि हम जैसा मानें, वैसा कहें और जैसा वचन

कहें, उसके अनुसार कर्म पूरा करें । हमारे जीवनमें सरलता हो । दम्भ, कपट और धोखेसे हम बचें । अस्तेयसे चोरीके त्यागका भाव लेना है। मन, वचन और कर्मसे किसी प्रकारकी चोरीको हम न करें। चोरी भय, शंका, लज्जा, वैर, द्वेष, स्वार्थ आदिसे उपजे हुए संकोचका परिणाम होती है । उसे छोड़नेके लिये मूलकारणोंको छोड़ना अत्यावश्यक है। ब्रह्मचर्यसे तात्पर्य मन तथा इन्द्रियोंको अनुचित प्रवृत्तियोंसे रोकना है । विषय-वासनाओंके अधीन हो जानेसे मनुष्यमें दीनता आ जाती है। उसके आत्म-सम्मानकी हानि होती है । स्वतन्त्रता और गौरव इस बातमें है कि मनुष्य मन और इन्द्रियोंसे अपनी इच्छानुसार काम ले सके। परन्तु यह आवश्यक है कि वह विषयलम्पटका उच्छृंखल वासना ही स्वतन्त्रताका रूप धारण न कर रही हो। ज्ञान तथा विवेककी सहायतासे, युक्त अयुक्त विचार करके जो नीति स्थिर की जावे, उसे पूरा कर सकनेमें वास्तविक गौरव है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे इस अर्थमें सच्चे ब्रह्मचारी हैं। पांचवां यम लोभ न करनेका व्रत है। लोभ सब पापका मूल है । उत्तमोत्तमगुणोंसे सुभूषित सज्जन भी इसके वशमें होकर नाना प्रकारके कुकर्मों तथा अत्याचार और अन्यायके विस्तारमें लग जाते हैं। योग्यतापूर्वक सम्पत्तिका बढ़ाना पाप नहीं है। अपने अधिकारकी जांच न कर सकना और सर्वस्वके ग्रहणकी लालसा करते रहना ही लोभका स्वरूप है। इस प्रवृत्तिको ठीक मर्यादामें न रख सकनेसे अनेक उपद्रव और अनर्थ होते हैं।

१३. ये सुनहरी बातें व्यवहारमें आकर हमारे सामाजिक जीवनको सुसंगठित करती हैं। यदि परस्पर भय और

अविश्वास सदा मौजूद रहे, तो मानवसमाजकी समाप्ति ही समझो। एक दूसरेके प्रति आदरके भाव तथा सामुदायिक हितकी एकतापर ही समाजकी सत्ता निर्भर होती है। अपने अधिकारोंका रक्षण तथा दूसरों स्वत्वोंके दबानेमें संकोच, सामाजिक शान्ति तथा उन्नतिका बीज समझना चाहिये। इसी मूलका दृढ़ करना यमोंकी सिद्धिका आदर्श है।

१४. आन्तरिक चक्रका दूसरा भाग पांच नियमोंसे पूरा होता है। इनका विशेषरूपसे व्यक्तिके साथ सम्बन्ध होता है। यदि इनके धार्मिक महत्त्वके विशेष परिज्ञानके विना इनपर आचरण किया जावे, तो इनका परिणाम केवल दिखावा और आडम्बर होता है। जनताको इससे धोखा लगता है और अनेक प्रकारकी हानि होती है। यमों और नियमोंके इस मौलिक भेदका विचार करते हुए ही, मनुस्मृतिमें यह उपदेश पाया जाता है कि यमोंका आचरण न करके केवल नियमोंका विचार करने वाला साधक पतित हो जाता है।

१५. पांच नियम इस प्रकार हैं। शौच अर्थात् शुद्ध रहना। सन्तोष, अर्थात् प्रसन्नताको धारण करना। तप अर्थात् कृच्छ्र जीवनका अभ्यास करना। स्वाध्यायसे तात्पर्य मोक्ष-शास्त्रोंका अध्ययन तथा विचार होता है। पांचवां नियम ईश्वरप्रणिधान है। इसका आशय यह है कि मनुष्य सच्चा आस्तिक और भगवदाश्रित हो। भगवान् सदा भलाही करता है, ऐसा उसके मनमें विश्वास रहना चाहिये। इनमेंसे प्रत्येक नियमका व्यक्तिगत विकासके साथ संबंध है। पूर्ण उन्नत होता हुआ भी मनुष्य, यदि कभी अपने आस पास रहने वालोंके

आगे अपने हृदयके भावोंको खोल कर नहीं रख सकता, तो निश्चय है कि उसे स्वार्थका कीड़ा खा जावेगा। स्वार्थक्या है? यह वस्तुतः अपने अन्दरकी विषात्मकता है और जो इस रोगका शिकार हो जाता है, उसमें सर्वप्रकारकी सड़ांद पैदा हो जाती है।

१६. वाह्यचक्रमें नाना प्रकारके कृत्यों, संस्कारों, रीतियों और रिवाजोंका समावेश होता है। प्रत्येक समाजमें यह कर्म-काण्ड उसकी स्वाभाविक नीतिके अनुसार भिन्न २ होता है। समय २ पर होने वाले राजनैतिक तथा धार्मिक और सामुदायिक आन्दोलनोंका भी इसपर प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दोंमें यह एक प्रकारका सामाजिक समझौतासा होता है। जो समुदाय तथा धर्म इन ऐतिहासिक घटनाओंके अनिवार्य परिणामोंको अनुभव करके, समयानुसार उचित रीतिसे अपने कर्म व्यवहारमें परिवर्त्तन कर सकते हैं, वे जीवित समझे जाते हैं। जो समयके परिवर्त्तनके साथ नहीं चल सकते, वे पत्थरकी भान्ति जम कर सामाजिक विकासके मार्गमें बाधा उपस्थित करते हैं। समय आता है, जब उनके विरुद्ध प्रबल बाढ़ उमड़ पड़ती है और उन्हें सदाके लिये बोरिया बिस्तर बांधना पड़ता है।

१७. वैदिकधर्म इस उभयमुखी स्वरूपकी ठीक २ शिक्षा देता है। इसका विशेष महत्व इस बातमें है कि यह कर्मको अनिवार्य बतलाता हुआ भी, ज्ञानकी प्रधानताको स्वीकार करता है। अज्ञानयुक्त, अन्धविश्वासपर निर्भर कर्म काण्डकी शास्त्रोंमें भरसक निन्दाकी गयी है। मुण्डकोप-निषद्में इस प्रकारके कर्मोंको कश्ती, छिद्रयुक्त अर्थात् भवसागरमें

डुबानेवाली नौकाओंसे उपमा दी है । वहींपर यह स्पष्ट उपदेश मिलता है कि ज्ञानरहित कर्म-काण्डके उपासक अन्धेरेमें रहते और मानवजीवनके उच्चतम आदर्शसे पतित होजाते हैं। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके दूसरे मन्त्रमें कर्म-बन्धनसे अलिप्त रहनेका सच्चा मार्ग बताया है। निष्कामभावसे युक्त होकर कर्त्तव्य-बुद्धिको धारण करके और ज्ञान तथा विज्ञानसे मिलाकर, कर्म करनेकी शिक्षा, भगवद्गीता तथा उपनिषदोंमें स्थान २ पर मिलती है । ऋषियोंने यहां तक कहा है कि तत्व-ज्ञानके विना मोक्ष हो ही नहीं सकता । मनुस्मृतिमें स्पष्ट लिखा है कि तार्किक बुद्धिसे परीक्षा करनेवाला साधक ही धर्मके असली मर्मको जान सकता है । निरुक्तशास्त्रके अन्तमें इस तर्क-शक्तिको ऋषिको पदवी दी गयी है । तर्कका सार बुद्धिकी स्वतन्त्रता है।

१८. अथर्ववेदका आरम्भ ही वाचस्पति–सूक्तसे होता है। प्रभुका सर्वज्ञानमय स्वरूप सम्मुख लाकर, यह भावनाकी जाती है कि हम सदा ज्ञानके भक्त बने रहें। अविद्या पिशाचीका हमारे मध्यमें कभी पग न पड़े । ऋग्वेदका ज्ञानसूक्त कितना मधुर तथा ओजस्वी है । कितनी सुन्दरतासे वहां ज्ञानकी मित्रताकी महिमा गायी गई है * । वेद भगवान्में हज़ारों स्थानोंपर बुद्धिकी उन्नतिकी भावना पाई जाती है। कहां तक लिखें, आर्य धर्मका परम, पुनीत गुरुमन्त्र भी तो इसकी ज्ञान-परताका ही ज्वलन्त प्रमाण है।

* ज्ञान और कर्मके सम्बन्धके लिये लेखककी देवयज्ञ प्रदीपिकामें तथा ज्ञानकी महिमाके लिये उसके वेद-संदेश, द्वितीय भागमें सम्पूर्ण वर्णन देखें।

१९. भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास भी इन शास्त्रीय आदर्शों की पुष्टि करता है। उपनिषदोंमें लिखा है कि अश्वपति महाराजके राज्यमें मूर्खता पाप समझी जाती थी। वाल्मीकि मुनिने महाराज दशरथके समयका भी ऐसा ही वर्णन किया है। क्या यह केवल एक वैभवशाली महाराजको रिझानेके लिये कविका कवित्त मात्र है? एक क्षणके लिये यह भी मान लिया जावे, तो क्या हानि है? हमें फिर भी स्वीकार करना होगा कि विद्याके विस्तारके साथ प्रेमका होना ही उस समयके महाराजोंका सर्वोत्तम गुण समझा जाता था।

२०. आज भारतके नवयुवकोंके लिये देश और विदेशमें कोई मान और आदरका स्थान दिखाई नहीं देता। कला कौशलकी रहस्य-विद्याओंके द्वार उनके लिये बन्द हैं। आज प्राचीन भारतके विश्व-विख्यात सुपुत्र कहां हैं, जो विद्या-प्राप्तिके लिये समस्त संसारको अपने विश्वविद्यालयोंमें निमन्त्रित करते थे? उन्हें विद्यासे प्रेम था और वे दूसरोंको यहां आकर प्यास बुझानेके लिये प्रेरणा करते थे। उन्हें अपना धर्म शिक्षा देता था कि सदा विद्याका प्रचार ही करते रहना चाहिये। इस उद्देश्यकी पूर्त्तिमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी हुई। उन्होंने सकल विद्याओं और कलाओंमें उन्नति प्राप्त की। उनकी विद्या सर्वांगपूर्ण तथा उनकी बुद्धि स्वतन्त्र और चमत्कारयुक्त थी। वे सूक्ष्मदर्शी और समन्वयमें निपुण थे। भिन्न २ दार्शनिक सम्प्रदाय, गम्भीर आत्मिक तत्त्वोंका अन्वेषण, उच्चकोटिके ईश्वर सम्बन्धी विचार, अद्भुत सामाजिक विद्या,

सर्व दोषोंसे रहित, जातीय विकासके सिद्धान्त, पूर्ण वर्णाश्रमके विभागके रहस्य, उत्कृष्ट ज्योतिषकी विद्या, विस्तृत आयुर्वैदिकज्ञान तथा अन्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएं उनकी विभूति तथा योग्यताके चिह्न हैं। सारे संस्कृत साहित्यमें विचारके भेदके कारण असहिष्णुतासे किये गये अत्याचारका उदाहरण मिलना कठिन है। ऋषि तो अपने विरुद्ध मतोंका आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं। खुली ज्ञान चर्चा तथा मतोंका स्वतन्त्रता पूर्वक प्रकाश करना उस युगकी विशेषता थी। और यही पक्का आधार है जिसपर विज्ञानका विशाल भवन खड़ा किया जाता है।

२१. इस लिये विज्ञान तथा धर्ममें जो विरोध समझा जाता है, उसका मूल पश्चिमी इतिहासकी अत्याचारमयी घटनाओंमें है। वहांपर अब तत्त्ववेत्ता सज्जन धार्मिक विचारोंकी ओर उपेक्षा धारण किये हुए हैं। वहां विद्वानोंने व्यवहारात्मक धर्मको दर्शन शास्त्रका अंग बनाकर, उसे विद्याके क्षेत्रमें प्रविष्ट कर दिया है। पर भारतवर्षमें ऐसा करनेकी आवश्यकता ही नहीं। यहां आर्य धर्मके व्यवहारात्मक भागको सब मानते ही चले आये हैं। शेष आर्य सिद्धान्त रह जाते हैं। इनके मानने मनवानेमें ऋषियोंने सदा उदारतासे काम लिया है। भारतीय जनताने भिन्न २ विचारकोंको समानरूपसे अपना पूज्य ऋषि माना है। आज भी प्रत्येक सच्चा आर्य अपनी योग्यताके अनुसार, प्रत्येक शास्त्रीय मतको परीक्षाके अनन्तर ही मान सकता है। और यही बात है, जिसे ऋषि सदा पसन्द करते आये हैं।

२२. ऋषियोंने प्रत्येक तत्त्वको भली भान्ति साक्षात् करनेके लिये तीन सीढ़ियां बताई हैं। पहिले ध्यान पूर्वक शिक्षा प्राप्तकी जावे। फिर उसपर अपना मनन किया जावे। अन्तमें उसकी सत्यताका ठीक २ अनुभव करनेकेलिये मनको उसमें लीन करके उसका साक्षात्कार किया जावे। पाठकवर्ग! आर्य धर्म इस प्रकार पूर्ण अनुसन्धानके भावको हमारे हृदयमें अंकित करना चाहता है। यहांपर धर्म एक विश्वव्यापी भवन है, जिसका सबसे बड़ा कमरा विज्ञान है। विज्ञान कोष्ठके चारों ओर कर्मके भिन्न २ कोष्ठ हैं। सार यह है, कि विज्ञान आर्यधर्मका आत्मा है। कर्मकाण्ड इसका शरीर है। विज्ञानमें इसका प्रकाश है और कर्ममें इसका बल है।

२३. देखना, ध्यान रखना। आर्य धर्मके इस पवित्र तथा गंभीर स्वरूपको ठीक २ समझना। इसे न समझकर भारतमें भी अनेक मिथ्या विश्वासोंका प्रचार होचुका है। ऋषि दयानन्दने इस पुराने, शुद्ध धर्मके पुनः दर्शन कराकर हमपर बड़ा उपकार किया है। इस दर्शनको यत्नपूर्वक संभालकर रखना। कहीं प्रमादसे फिर दीनता, बन्धन, मिथ्या विश्वास, तथा सत्यवचनियापनके अन्धेरे गढ़में न गिर जाना। विज्ञान-सहायक, स्वतन्त्रता-दायक, शान्तिप्रद आर्य-धर्मकी संसारमें बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक आर्यका कर्त्तव्य है कि पूर्वोक्त प्रकारसे प्रथम स्वयं इन गुणोंका रूप बने और फिर जहां जावे, इस प्रकाशको साथ ले जावे।

——:*:——

२२–ऋषिका आर्षदर्शन।

१. मनुष्य २ में भेद क्या है ? नदी-तटपर दो व्यक्ति खड़े हैं। एक इतना ही लाभ उठाता है, कि नदीमें नहाता अथवा कपड़े धो लेता है। उसके साथीकी मानसिक तरंगें शीतल समीरके सम्पर्कसे उठती हुई निर्मल-नीरकी तरङ्गोंके साथ कल्लोल करने लगी हैं। उसे जल-प्रवाहकी प्रथमावस्था, वह पर्वतीय दृश्य, वह सुन्दर वन और वह विविध वन-मृगोंका इधर उधर कूदना फांदना–यह सब उस सूक्ष्म-दृष्टिके सम्मुखसे, मानो, हो कर जा रहा है। उसका मन उधर लगचुका है। आन्तरिक नेत्र खुलगये हैं। भूत वर्त्तमानकी और वर्त्तमान भविष्यकी गोदमें खेलता २ चला जा रहा है।

२. पूर्णचन्द्रकी सुहावनी चांदनी और घटा-टोप अन्धकारमयी अमावस्याकी रात्रिमें भिन्न २ व्यक्तियोंको भिन्न २ भावोंका भान होता है। तारों भरा गगन-तल ज्योतिर्विद्या-विशारदोंके सामने विलक्षण ही रूप धारण किये हुए होता है। यह सारी बात क्या है ? सर्व धर्म कर्मके परम मर्मोंकी प्रकाशक, परम पवित्र वेद-वाणी क्या सुन्दर तथा यथार्थरूपसे इस भेदके वास्तविक भेदको खोलती है। "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः" । ऋ० १०। ७१। ७॥ अर्थात्, आकार, रूप और रङ्गका भेद मनुष्योंका वास्तविक भेदक नहीं। वरन् मनके वेगसे ही मनुष्योंके तारतम्यका अन्तिम निश्चय हो सकता है। आँखोंसे देखकर और कानोंसे

सुनकर, जिन व्यक्तियोंके हृदय-पटलमें विशेष प्रतिभा-मूलक भावोंका सञ्चार नहीं होता, वह साधारणकोटिमें पशुवृत्तिसे जीवन निर्वाह करते हैं। परन्तु जो बाहिरके आवरणका छेदन कर वस्तुके वस्तुत्वके दर्शनकी लालसासे उत्तेजित हो, निरन्तर अन्तर्मुख रह सकते हैं, वे महापुरुष सर्वप्रकारसे पूज्य और श्रेष्ठ होते हैं। जिस ओर वे अपनी मनोवृत्तिको प्रेरित करते हैं, उसी ओर अप्रतिहतरूपसे उनका मार्ग खुलता हुआ चला जाता है।

३. यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः" ।ऋ० १०।७१।१ ॥ अर्थात् उत्तमसे उत्तम सर्वजनीन तत्त्व उनकी बुद्धिमें प्रकाशित होते हैं। सार्वत्रिक प्रेमसे परिपूर्ण होकर, वे इन्हें धारण करते और मनुष्य-मात्रकेलिये प्रकाशित करते हैं। फिर दूसरे मन्त्रमें क्या सुन्दर वर्णन किया है।

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधिवाचि"

अर्थात् वे प्रथम मनन-शक्ति द्वारा अपने विचारोंका साक्षात्कार करते हैं और फिर जो परिपूत वचन इनके मुखसे निकलते हैं, वे श्री और कल्याणके बीज होते हैं।

४. इन्हें ऋषि कहते हैं। इन्होंने उपर्युक्त रीतिसे धर्मको प्रत्यक्ष कर लिया होता है। ऋषि बननेके लिये सूक्ष्मबुद्धि और अन्तर्वृत्तिकी अपेक्षा है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक ऋषि सर्वथा नूतन तत्त्वका आविष्कर्त्ता ही हो। वस्तुतः संसारमें ऐसी नवीन घटना है भी कौनसी? धार्मिक विज्ञान तथा

सामाजिक सभ्यताका विकास उत्तरोत्तर नहीं, वरन् चक्रक्रमसे ऊपर और नीचे जाने वाला है । अतः जो व्यक्ति लुप्त हुई २ अथवा नूतन सर्वहित-कारक, सत्य, विज्ञानमय, उन्नतिकी विधियोंका प्रकाश करता है, वह ऋषि है ।

५. ऋषि होनेकेलिये शाब्दिक परिवर्त्तन अथवा काचित्क त्रुटियोंसे कोई अन्तर नहीं पड़ सकता । इसके साथ ही ऋषि होना निर्भ्रान्त होना नहीं । वह अवस्था केवल सर्वज्ञ ब्रह्मको ही प्राप्त है । मानुष-दर्शन तथा आर्ष-दर्शनमें केवल तारतम्यका भेद है । दर्शनकी सत्यता व्यवहारमें लानेसे पता लगता है ! यदि संसार उस दर्शनसे उन्नत होता है, तो वह सत्य दर्शन है, अन्यथा भ्रमयुक्त है । इसीप्रकार उसकी चिरञ्जीविता भी उसकी उपयोगशक्तिमें गर्भित समझनी चाहिये ।

६. इन अर्थोंमें श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज सच्चे ऋषि हुए हैं । आरम्भसे ही उनकी बुद्धि सूक्ष्मताकी ओर झुकी हुई थी । मूषक-क्रीड़ा मन्दिरोंमें हमने सहस्रवार देखी होगी, परन्तु इसका यथार्थ प्रभाव मूलशङ्करके प्रत्यग्र, कोमल, हृदय-अंकुरपर ही पड़ा । मृत्यु किस घरमें नहीं हुई और कौन ऐसा सौभाग्यवा है, जिसके देखते २ उसका कोई न कोई प्रेम-पात्र आनकी आनमें न चलबसा हो ? परन्तु जो स्थिर परिणामपुञ्ज स्वामी दयानन्दको इस जीवन-तत्त्व और मृत्यु-रहस्यकी गवेषणासे उपलब्ध हुआ, और जो शाश्वत सन्तोष और कठिन वैराग्यक आनन्द उन्होंने पाया वह ऋषियोंके ही भाग्यमें आता है ।

७. उन्होंने सर्वाङ्गपूर्ण, सर्वोन्नतिमूलक, सर्वमंगलप्रद सर्ववैषम्य-विनाशक, अनादि धर्मके दर्शन किये । उनकी विद्य

और तपस्या पुष्कल फल लाई। परन्तु आदित्यवत् प्रकाशमान होते हुए भी वह सदा यही कहते रहे कि मैं कोई नवीन, अघटितपूर्व बात नहीं कहता। यही भगवान् ईशु ने कहा था और ऐसे ही भाव अन्य समस्त महात्माओंने प्रकट किये हैं। जबसे वेदविद्याका लोपसा होगया था, संसारमें नाना प्रकारके मतोंके प्रचारके कारण वास्तविक धर्मके स्वरूपको समझना कठिन हो गया था। कोई संसारको भ्रम और मिथ्या बतलाता, कोई संसारको ही सर्वश्रेष्ठ समझता, कोई कर्मपर बल देता, तो कोई इसे जड़से ही उड़ाना चाहता था। कोई देवी देवताओंकी पूजा सिखाता और कोई मनुष्योंके ही सामने मस्तक घिसवाता था। कोई बुद्धिका उपासक और कोई बुद्धिका शत्रु था। इस व्याकुलताके कालमें ऋषिने 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० १०। ७१। ३॥) अर्थात् ऋषियोंने जिन तत्त्वोंका दर्शन किया था, उन्हींको पुनः साक्षात् किया और प्रचारकेलिये कटिबद्ध हुआ।

८. ऋषिका जीवन अपने दर्शनका पूर्ण प्रतिबिम्ब था। उसमें कर्म और ज्ञान, ध्यान और उपासना, प्रेम और सहानुभूति, शरीरधर्म और आत्मिक विकासका मेल बड़ी कारीगरीसे पाया जाता था। उनमें कार्य्य करनेकी अनथक शक्ति थी और इसीके सहारे उन्होंने दश वर्षमें एक प्रकारसे सारे संसारकी काया पलटनेका यत्न किया। भारतवर्षमें कौनसी ऐसी उन्नतिकी सरणि है, जिसपर चलनेकेलिये उन्होंने प्रेरणा न की हो। राष्ट्रकी उन्नतिकेलिये उन्होंने एक भाषा, आत्मगौरव, जातीय मान, स्वधर्ममर्यादा, सामाजिक संगठन, शुद्धि और अन्योंका स्वधर्मप्रवेश, गोरक्षा, गुण, कर्म तथा स्वभावके

अनुसार वर्णव्यवस्थाका प्रचार किया। विद्या और विज्ञानके साथ धर्मकी अनादि मित्रताको उन्होंने पुनः संस्थापित किया। कर्महीन कायर जातिके अन्दर कर्म परायणताकी प्राण-प्रद भावना पैदाकी। वैयक्तिक भावको सामुदायिक भावपर न्योछावर करनेकी शिक्षा दी। सच्ची आस्तिकता और प्राचीन वैदिकधर्मकी शुद्ध व्यवस्थाका पुनरुद्धार किया। बिखरे हुए दानोंको एक आर्य्यसमाजरूपी मालामें पिरोनेका यत्न किया। सारे संसारके प्रेमको स्वदेशके प्रेमके साथ इकट्ठा करके प्रत्यक्षरूपसे उन्होंने दिखाया कि एककी उन्नति और दूसरेकी हानि—यह नियम धर्ममर्यादासे बाहिर है।

९. इनमेंसे एक २ बातको लेकर यह पता चल जायगा कि ऋषिने किस प्रकार सच्चा दर्शन प्राप्त किया और ऋषियोंके मुकुटमणि बननेका अधिकार पाया। यह उपदेश सार्वत्रिक और विश्वजनीन है। जो जाति अथवा देश इसके अनुकूल होगा, वहीं सच्ची उन्नति होगी। परमात्माकी अपार दयासे दयानन्दकी की हुई इस दीप्तिको बढ़ाने वाले, उसके भावोंको समझते हुए विद्या और धर्ममें सदा लीन रहने वाले, सच्चे पथ-प्रदर्शक, ओजस्वी, प्रकाण्ड प्रचारक पैदा हों। ऋषिका सन्देश संसारके कोने २ में ले जानेका साहस करने वाले नव-युवको! ऋषिके प्रति पूर्ण प्रेम और श्रद्धासे आर्द्र-हृदय होकर वैदिक-विद्या और तपस्याको धारण करो, सङ्कोच छोड़ो, विस्तार करो। जगतमें तुम्हारी अत्यन्त मांग है। बढ़ो, आगे बढ़ो और मिलकर, सम्मति करते हुए, आगे बढ़ो।

——:०:——

२३—ऋषिका देश-सन्देश।

१. धन्य हो, ऋषिवर ! धन्य हो, शिवकी रात्रि ! चारों ओर अन्धेरा था। मन्दिरके अन्दरकी मन्द ज्योति भी घबरा रही थी। पर भावी दयानन्दके हृदयमें दीपककी शिखा बढ़ रही थी। वह बोध क्या था, वह तो सहस्रों वर्षोंसे दबी हुई वेद-वाणीका अदम्य आन्तरिक नाद था। हे मुनिसत्तम ! बीसियों वार तुझसे पूर्व भी इस देवीने बड़े २ प्रकाण्ड पण्डितों और रणधीर वीरोंके मणिबन्धनपर अपना रक्षाबन्धन-सूत्र बांधनेकी ठानी। कई एकने इसे सान्त्वना दी भी सही, पर जो ढारस तूने इसके चित्तको बंधाया है, जो रक्षा तूने इसका उस उन्नीसवीं शताब्दीकी दीन, हीन, अहर्निश-क्षीण दशामें की है, जो कान्ति तूने इसके मुरझाये हुए मुखमण्डलपर पुनः पैदा की है और एक वार फिर जीवित जागृत जगत्में इसको उठने बैठनेके योग्य बनाया है, वह तेरे ही तप, ज्ञान, अखण्ड ब्रह्मचर्य, योग और अन्य असंख्य तेजोमय गुणोंके योग्य है।

२. लोग कहते हैं, वेद सब ग्रन्थोंमें अति प्राचीन ग्रन्थ है, अतः आधुनिक साहित्यके सामने उसकी क्या गणना हो सकती है ? आज संसारने समस्त प्रकारसे जीवनके प्रत्येक सामुदायिक तथा वैयष्टिक विभागमें, ज्ञान, विज्ञान और कला कौशलके प्रतापसे अतिमात्र उन्नति करली है। यह विकासक्रम इसी प्रकार आरम्भसे चल रहा है। कलसे आज उत्कृष्ट है और आजसे आने वाला दिन अच्छा होगा।

३. इस विषयमें महाराज दयानन्दने क्या सुन्दर उपदेश किया है। वैज्ञानिक उन्नति सीधी चाल छोड़ कर चक्रगतिमें चला करती है। जैसे मनुष्यके दिन एक समान नहीं होते, वैसे ही जातियों और सभ्यताओंकी भी अवस्था है। अतः वेद पुराना हो या नवीन, इस विचारको छोड़ कर, उसकी शिक्षाको परीक्षाके अनंतर ग्रहण करो। इस विचारसे प्रेरितहो कर पाठक निम्न लिखित मंत्रपर विचार करें।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

अथर्ववेद १२।१।१॥

अर्थः—महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ पृथिवीको धारण करते हैं। वह भूत और भव्यकी स्वामिनी, पृथिवी हमारा विस्तार करे।

क्या सुन्दर और गम्भीर अर्थ है और क्या सरल तथा ललित पदोंका प्रयोग किया गया है। किस प्रकार इस देव-गंगाका प्रवाह चलता है। अनुकरण करनेके लिये वस्तुतः यही स्वाभाविक भाषा है।

४. प्रथम चतुर्थ पादपर विचार कर लीजिए। कोई जाति अथवा देश विस्तार के विना उन्नत तथा सुरक्षित नहीं हो सकता। विस्तार दो प्रकारका होता है, मानसिक अर्थात् दृष्टि-कोण विस्तार और शरीर-जन्य विस्तार। यदि कोई जाति वस्तुतः संसारमें वृद्धि चाहती है, तो उसे इन्हीं दो प्रकारके विस्तारोंको धारण करना होगा। जो जाति कूप-मण्डूक बनकर रहना चाहती है, उसे विस्तारशील जातियां आकर वहीं घेर और

दबा लेती हैं। प्राचीनकालमें आर्य जाति संसारमें इधर उधर अपने फैलावका मार्ग सोचती और उसका अवलम्बन भी करती थी। जावा और अन्य द्वीपोंमें, मिश्र, यूनान और अन्य देशोंमें यहांसे फैल २ कर लोग गये और जा बसे।

५. इसी प्रकार आजकल पश्चिमकी जातियोंने किया है और कर रही हैं। अमेरिका, अफ्रीका अस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपोंको सहस्रों कष्ट झेल २ कर, इन पुरुषार्थी लोगोंने अपने निवासके योग्य बनाया है। इँगलैंडकी सबसे बड़ी शक्ति यही है कि वह सब से अधिक फैला हुआ है। यह विस्तार दीर्घदर्शिता चाहता है। 'लोक' शब्दका दूसरा अर्थ दृष्टि है। संकुचित दृष्टिके स्थानपर विस्तारात्मक दृष्टिद्वारा अपने भूत और भविष्य को मिलाते हुए, वर्त्तमानको यथेष्ट नियममें ले।आओ।

६. यह भाव तीसरे पादमें खोला गया है। सच्ची देश रक्षा तब होगी, जब जातिके भूत इतिहास तथा भावी उद्देशोंको बुद्धि-मत्तासे वर्त्तमानमें मिलाकर उपयोगी बनाया जायगा। किसी जातिको गिरानेका बड़ा सरल उपाय यह है कि उसकी फूटती हुई कोंपलोंके सुकुमार हृदयमें यह भाव पैदा कर दो कि हमारे पूर्वज दुर्बल थे और सदा नीचा ही देखते रहे। वह मुरझा जायेंगे। अभी दूसरा भाव भर दो, आत्म-गौरवके संचार होते ही रक्तहीन, विवर्ण वदनोंके कपोल-तल पर गुलाबका सा गुलाबी रंग, आन्तरिक उत्साह और साहसका वाह्य चिह्न बन कर, प्रत्यक्ष देखनेमें आ जायगा। जातीय जीवनके लिये अतीत इतिहास प्राण समान है।

७. भावी प्रोग्राम भूतके आधारपर बना करता है । आज एक जाति कुछ ह्रासकी अवस्थामें है । उसे उत्कर्षके दिन स्मरण करा दो, उसे उत्तेजना मिलेगी और उसका भावी कालका चित्र अत्यन्त भव्य होगा । विना उच्च उद्देशके जीवन निरर्थक है । प्रत्येक व्यक्तिके समान प्रत्येक जाति दीर्घ कालके अभ्यासके कारण सदा एक विशेष प्रकारके विचारके बहावमें बहा करती है । उसका भावी कार्यक्रम उसी बहावके अधीन हुआ करता है । अतः भूतकी रक्षा और भविष्यकी उच्चता दोनों आवश्यक हैं और यह एक और वस्तुमें लीन हो जाती हैं और वह वर्त्तमान है । वर्तमानका मूल भूतमें है और इसका अपना किया कराया भविष्यका दायभाग है ।

८. यह भी सम्भव है कि एक जातिका भूत वस्तुतः रिक्तपत्रके समान हो, जिस पर अभी कोई सुन्दर चित्र नहीं डाला जा सका । क्या ऐसी जातिकेलिये कोई आशा नहीं ? वेद कहता है, यह बात नहीं है । उसे चाहिये कि वर्तमानको ही एक ऐसा सुन्दर चित्र बना डाले कि उसके आधारपर उसका भविष्य जीवन स्वयमेव उत्कृष्ट होता चला जाय । थोड़ेसे समयके पीछे यही भूत बन जायगा और उस जातिकी संततिके लिये भूत, वर्तमान और भविष्यकी लड़ी पूर्ण हो जायगी ।

९. इस परम पुनीत मन्त्र का पूर्वार्ध गुणोंके तीन ऐसे जोड़ोंका वर्णन करता है, जो वर्त्तमानकी उन्नतिकी नींवके समान हैं । वे जोड़े ये हैं:—

(१) सत्य और ऋत ।
(२) दीक्षा और तप ।
(३) ब्रह्म और यज्ञ ।

'सत्य' उन अटल नियमोंका वाचक है, जो भौतिक जगत्‌को चला रहे हैं। जो व्यक्ति अथवा जन-समुदाय इन नियमोंका प्रतिदिन ज्ञान बढ़ाता और इन्हें उपयोगमें लाता है, वह नित्य उन्नति करता हुआ चला जाता है। एक वे लोग हैं, जो पहाड़ोंका पेट फाड़ कर सड़कें बनाते और नदियोंकी छातीके ऊपर पुल बांधते हैं, और एक वे हैं, जो एक २ पत्थर के आगे मस्तक घिसते और नदियोंके आत्मा को पैसे दे २ कर प्रसन्न करते हैं। इन नियमोंको न समझकर भूत, प्रेतके भयसे भयभीत हो २ कर कइयोंने अपना उत्साह नष्ट कर लिया है। इसी अज्ञानके कारण ब्रह्मचर्य्यका अभाव, बालविवाहकी दुर्घटनाएं, विधवाओं और अनाथोंकी चीखें और पुकारें और सहस्रों अन्य व्यसन और विपत्तियां मनुष्योंको आ दबाती हैं।

१०. 'ऋत' आध्यात्मिक मर्यादाका वाचक है। वही जाति उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ होकर प्रतिष्ठित होगी, जो इस मर्यादाका आदर करेगी। जातिको व्यक्तियोंके समान ही अन्याय और अत्याचारसे हाथ रंगने से बचना चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण उन्नति तथा विस्तारके लिये अवकाश दिया जाए। संस्कृत साहित्यमें इसे 'राम-राज्य' कहा जाता है। सत्य और ऋतके ज्ञानको उपार्जित कर, शिक्षा और तपकी भट्ठीमें से निकलना भी आवश्यक है। दीक्षा मानसिक विनय और तप शरीरिक तथा मानसिक सहिष्णुताका वाचक है। विना इस साधनके किये, जब एक व्यक्ति दोनों समय पेट भर खानेको नहीं ला सकता और अन्य जीवनके आनन्दोंसे भी वञ्चित रहता है, तो जातीय अवस्थामें तो इसकी और भी अधिक अपेक्षा है।

११. ज्ञान, विज्ञान और आध्यात्मिक नियमोंसे परिचित तथा दीक्षा और तपके भूषणसे भूषित और उन्नति-अधिकारमें अधिकृत हो कर, जातियोंको चाहिये कि ब्रह्म और यज्ञकी उपासना करें। व्यर्थ अभिमान-मदसे विमुक्त रहते हुए परमात्माकी सच्ची पूजा, वेदका प्रचार और त्याग-मय जीवनका सत्कार करनाही ब्रह्मोपासना है। यज्ञ परस्पर संगठन और परस्पर सहानुभूति तथा आदरका वाचक है। सच्चे विद्वानोंकी पूजा होनी चाहिये। जहां अपूज्योंकी पूजा और पूज्योंकी तिरस्क्रिया हो, वहां उन्नति कैसे हो सकती है? राष्ट्र और विद्या, धन और त्याग, लोक और परलोक, इष्ट और पूर्त्त, जहां मिल कर ठीक मात्रामें वास करते हैं, वहां कीर्ति, यश, तेज, सम्पत्ति, वृद्धि और आयु—सभी प्रिय गुण स्वयं आकर वास करना चाहते हैं।

१२. क्या यथार्थ उपदेश है! वेद कलका हो या परसोंका, यह उपदेश ग्राह्य है। यह वेदका महत्व है कि संसारका सबसे पुराना ज्ञान-कोश होता हुआ भी ऐसी शिक्षाओंसे पूर्ण है, जो प्रलय तक भी नवीन और उपादेय रहेगी। आओ, एक वार फिर उस ऋषिका धन्यवाद करें, जिसने अंधकारमें प्रकाश किया, लुप्तप्राय वेदोंका पुनः प्रचार किया, जातीय जीवनको पैदा किया, सच्चे विश्व-जनीन धर्मका स्वरूप बताया और मनुष्य मात्रका हितचिन्तन सिखाया।

१३. प्रिय पाठकवृन्द! इसी भावनासे प्रभावित हो कर ऋषिकी पद-पंक्तिका अनुसरण करो। व्यर्थ वाक्कलह और धड़ाबन्दियोंको त्याग कर आदर्श-प्रेमको चित्तमें स्थान दो। ऋषिका काम किसी एक व्यक्तिका नहीं। जो अपनायगा,

उसीका बन जायगा । प्राचीन वैदिक विद्याके कोश पूर्ण हैं । चाबी खोई जा चुकी है । खोलने वालोंमें उत्साह, शक्ति, त्याग और तपस्या चाहिये । वह मिल कर काम करना चाहें और वैयक्तिक लालसाओंसे ऊपर उठे हुए हों । उनका 'संघ' ठीक प्रकारसे संसारके कोने २ में ऋषिका परम पावन सन्देश ले जा सकेगा ।

---:*:---

२४—ऋषि-जीवनकी सुगन्धि ।

१. "शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः" ।

अर्थात् "शुद्ध बनो, पवित्र बनो और यज्ञके योग्य बनो"।

२. जिनके अन्दर शुद्धिके प्रति प्रेम नहीं, वे इस यज्ञ-मन्दिरमें प्रवेश करनेके योग्य नहीं । जहां शरीरके सम्बन्धमें शुद्धिके विषयमें सर्वसाधारणका अनुभव पर्याप्त होता है, वहां मानसिक तथा आत्मिक शुद्धिको वास्तविक रूपसे बहुत कम लोग देख पाते हैं । हमारी वासनाएं तथा भावनाएं इतनी सूक्ष्म और गहरी गई हुई होती हैं कि हम उनके शिकार होनेसे पूर्व उनके विषयमें प्रायः अपरिचितसे रहते हैं ।

३. अनेक वार ऐसा होता है कि हमें अपने विषयमें अभिमान तथा अहंकारके कारण इतना मिथ्याज्ञान सा हो जाता है कि हम साधारण प्रमादसे ही गिर जाते हैं । पर उस अवस्थाका क्या कहना जब कि हम आन्तरिक अवस्थाको अनुभव करते हुए भी उसके ऊपर पर्दा डालनेकी चेष्टा करते हैं । न केवल यही, बल्कि बहुतसे मनुष्य तो सारी आयु भर

इसी ढोंगमें रहकर दूसरे साधारण जनोंको खूब लूटते हैं, पर वास्तवमें यदि सोचा जावे, तो वे स्वयं घाटेमें रहते हैं। अपने आपको ही वे धोखा देते हैं। दूसरे लोग भले ही उनके कारण धनादिका नाश करते हों, पर उनका अपना तो पूरा सफाया ही होजाता है। उनकी आत्मिक उन्नति ठीक प्रकारसे नहीं हो सकती।

४. इस लिये जो लोग चाहते हैं कि हम यज्ञके योग्य बनें, उन्हें इन दोनों बातोंपर पूरा ध्यान देना चाहिये।

(१) बाह्य तथा आन्तरिक रूपसे शुद्ध बननेका यत्न करें।

(२) प्रतिदिन अपने विचारोंकी पड़ताल करते हुए जहां २ मलीनताकी आशंका हो, वहां २ पूरा प्रयत्न करके ठीक होनेके साधन धारण करें। न पर्दा डालें, न झूठ बोलें, न अपने आपको और न दूसरोंको धोखा दें।

५. इस मार्गपर चलकर ही एक साधक उच्चकोटिका "यज्ञिय" बन सकता है। 'यज्ञिय' का भाव क्या है ? अपने तीव्र त्यागके प्रभावसे जनताका उपकारक, सामाजिक बुराइयोंका सुधारक, प्रभुका सच्चा उपासक बनना ही "यज्ञिय" बनना है। शुद्ध भावनाके बलसे मनुष्य अपने अन्दर विशेष बल पैदाकर, जब उसे परोपकारमें लगा देता है, तो उसका फल यह होता है कि लोग उसकी ओर सच्ची श्रद्धासे पूर्ण होकर आकर्षित होने लगते हैं। ज्यों २ उसका बलबढ़ता है, उसके द्वारा लोकोपकारके क्षेत्रका भी विस्तार होता चला जाता है। प्रभु भी, ऐसे ही हृदय-मन्दिरमें निवास तथा प्रकाश

करते हैं। प्रभु-ज्योतिके चांदनेमें वह सज्जन सहस्रों नरनारीको ठीक मार्गपर डाल देता है।

६. भगवान् दयनन्दने अपनी अमूल्य जीवनीको इसी प्रकार शुद्ध मोतियोंकी माला बना, इस लोकको भूषित किया था। प्रभुने उनकी आहुतिको स्वीकार किया। उस यज्ञवेदिकासे सुगन्धि दूर २ पहुंचकर जनताके हृदयोंको आवासित कर रही है। यदि हम भी चाहते हैं कि प्रभु हमारी आहुति स्वीकार करें, तो केवल वाचिक त्यागसे ही अपने आपको कृतार्थ न समझकर, उपर्युक्त आन्तरिक त्यागके व्रतको धारण करें। प्रत्येक सच्चा आर्य यह चाहता है कि संसार आर्य-धर्मका श्रद्धालु बन जावे।

७. परन्तु कितने हैं, जो इस भारी कार्यके सम्पादनके लिये इस प्रकार "यज्ञिय" बननेका भी संकल्प करते हैं? यदि आज हमारी जन संख्याका एक प्रतिशतक भी इस पवित्र भावना से भर जावे, तो आर्य धर्मकी महिमा सम्पूर्ण भूमण्डलमें फैल सके। प्रभु हमारे ऊपर कृपा करें, ताकि हमारे अन्दर इस प्रकारके त्याग-धनी दृढ़-व्रती, धीर-प्रचारक पैदा हों और ऋषिके उद्देशकी संसारमें विजय हो।

१५—मातृ-भक्तिः।

१. माताका सिंहासन ऊंचा है। उसकी स्मृति सत्कार और स्नेहके सुमनोहर सम्बन्धको उत्पन्न करती है। वह मनुष्यका आदि-गुरु है। उस समय भी, जब कि, वह अभी अपने पिता तकसे परोक्ष होता है, माताकी स्वभाव-माधुरी उसके आत्म-तलपर अमिट संस्कार डाल रही होती है। उसके दूधके साथ ही साथ उसके हृदयके विविध भाव भी बालकके अन्दर संक्रान्त होते हैं। यह माताके अधीन ही समझिये, कि जैसा चाहे नन्हेसे बालकको बना ले। बड़े २ साङ्ग्रामिकोंने वीर-रसको, बड़े २ दिग्गज पण्डितोंने ज्ञान-रसको, बड़े २ तपःशील, साधु-स्वभाव, धर्म-प्रचारकोंने त्याग-रसको, बड़े २ विचारकोंने विचार-रसको माताकी गोदमें ही प्रथम पिया है। इसी हेतुसे आर्य्य-शास्त्रोंमें माताके गुण सब शिक्षकोंके गुणोंकी अपेक्षा कई गुणा अधिक प्रबल माने हैं।

२. प्रत्येक सभ्य जातिने मातृ-शक्तिकी महिमाको अनुभव किया है। मातृ-सम्बन्ध पवित्रताका आदर्श है। मातृ-स्नेह व्यवहारिक सौमनस्यका स्तम्भ है। मातृ-पूजा सभ्यताकी उन्नतिका अनुमान है। वह जातियां सांसारिक तथा धार्मिक अभ्युदयकी सोपान-पङ्क्तिके शिखरपर चढ़ी हुई समझी जाती हैं, जिनके हां विचार तथा आचरणमें नारियोंका यथायोग्य मान होता है और इन्हें पूर्ण उन्नति करनेके लिये निःसंकोच सब अवसर प्राप्त होजाते हैं। वहां वृथा अनुचित रीति-रिवाजोंके कड़े जटिल-जालके बन्धनोंको अनुभव किये बिना ही

विनयविनम्र तथा सद्गुण, सुभूषित, सती, विदुषी महिलाएं अपने पति-देवोंके साथ समान भावसे देश, जाति तथा धर्मकी नौकाको पार लगानेके लिये चप्पू लगा सकती हैं और लाभा-लाभमें ज्ञानपूर्वक सहानुभूतिके योग्य बन जाती हैं । वस्तुतः यह निकष बहुत युक्त है और सोचनेवाले विचारकोंकी चमत्कारिणी बुद्धि तथा उदारताका परिचायक है ।

३. सारा संसार आगे बढ़ा है, पर भारतका भाग्य अनूठा है ! वैदिक समयमें स्त्रियोंका आदर्श वास्तवमें कितना ऊंचा था । सुलभा, अनुसूया, गार्गी आदि विदुषी माताओंके नाम लेने से जिह्वा पवित्र होती है । कौशल्या, सीता और कुन्तीकी स्मृति ठण्डे पड़े हुए वीर-रस तथा धर्म-भावको जगाने वाली है । वह इस पवित्र देशके लिये अत्यन्त अपवित्र समय था, जब स्वार्थ तथा मूर्खताके धूमसे अन्धे होकर यहांके शक्ति-मदोन्मत्त कुछ ब्राह्मणों तथा दूसरोंने अपनी माताओं; बहिनों, अर्धाङ्गिनियों तथा पुत्रियोंके आगे विद्या-मन्दिरके सदा खुले हुए किवाड़ोंको बन्द कर दिया । उन आंखके अन्धोंकी बुद्धि पर यह आवरण कैसे आया, समझमें नहीं आता । जहां और देशोंका इतिहास बन्धनोंमें जकड़ी हुई नारीके मोक्षका उल्लेख करता है, वहां इस मन्दभाग्य भूमिकी कथा उलटी चलती है । जिस माताने प्राचीन कालमें याज्ञवल्क्य सरीखे विद्वानोंके छक्के छुड़ा दिये थे, आज उसीकी नाम-लेवा भारत-महिला मूर्ख और पांवकी जूती समझी जारही है । हा ! अत्याचार है !! अत्याचार है !!!

४. हो, ऐ आर्य्यपाठको ! चेतो । तुम्हारा यौवन-रक्त भी क्यों मातृ-भक्तिकी सेवासे विरक्त होरहा है ? देखो, तुम

अब भी एक महतारीके मधुर दूधको पीरहे हो। आह, इस दूधका प्रभाव विचित्र है! मानो, ज्ञान-गङ्गामें तुम्हारा स्नान हो रहा है। इस माताकी ध्वनिको क्या सुन रहे हो? सुनो, सुनो, क्या गम्भीर घोषणा होरही है! "धन्य२ हो, ऋषिवर दयानन्द! योगिराज दयानन्द! तापस-सम्राट् दयानन्द! जय हो, जय हो। तेरी जय हो। वेद और वेदका धर्म, वेद और वेदका जीवन, वेद और वेदकी श्रद्धा, सब भूल गये थे। तुमने प्रकाश किया। सत्यासत्यका निर्णय किया। विस्मृतको स्मरण कराया। तेरा जीवन मृतप्राय जातिके उत्थानमें, लुप्तप्राय धर्मके पुनः प्रतिष्ठापनमें व्यतीत हुआ। तेरा अपने अनुयायियोंके नाम यही संदेश है, यही प्रसाद है, यही ऋण है।" इस विजय-घोषणाको पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थीने सुना। इसे स्वर्गीय ला० लालचन्दजीने सुना। इसीने स्वामी श्रद्धानन्दको तेजोयुक्त बलिदानका सौभाग्य प्रदान किया। इसीपर पञ्जाबकेसरी और महात्माजी फूल चढ़ा रहे हैं। इसी मधुर-ध्वनिके प्रभावसे प्रभावित होते हुए और अनेक सेवक निरन्तर निजकार्यरत दिखाई देते हैं।

९. प्यारे युवको! इस गङ्गा-तटपर आकर प्यासे मत लौट जाना। इस रमणीय आरामसे कुछ पुष्प-प्रचय करके ही जाना अच्छा होगा। तुम्हारी मातृ-संस्थाकी एक २ ईंट त्याग, तपस्या तथा आत्म विश्वासका जाप कर रही है और ऊपर ओ३म्के झण्डेके नीचे इसका पवित्र नाम उपर्य्युक्त सन्देश सुना रहा है। सबसे पूर्व इसी माताकी भक्ति करो। अपने आदर्श पुरुषोंके गुणोंको धारण करो। सायं प्रातः अपने आत्मासे प्रश्न करो, 'क्या मैं इस घोषणाके अनुकूल कुछ

अपनी माताके आदर्शोंकी पूर्त्तिकेलिये उपयुक्त हो सकूंगा ?' प्रतिदिन इस प्रश्नकी माला फेरो। निश्चय जानो, तुम्हारे पीछे स्मरणीय नामोंकी मालामें तुम्हारा मनका भी फिरा करेगा। जहां जाओ और जैसे जाओ, यह उपहार प्यारी माताकी ओरसे पक्की गांठ बांधकर लेजाना।

६. शेष मातृ-भक्ति इसीकी व्याख्या होगी। जब तक यह पक्की न बांधोगे, यह भक्ति तुम्हारी पहुंचसे परे है। वह क्या है ? दीन, हीन भारतमाताकी सुध लो। तुम्हें भारतोत्थानमें अपने स्वतन्त्र विचार और आदर्श उपस्थित करने होंगे। देशोन्नतिका तात्पर्य्य कौंसलोंके अन्दर या बाहिर प्रस्ताव प्रस्तुत करने मात्रसे ही समाप्त नहीं होजाता। ऊपरके सारे शोर और कोलाहलके नीचे चुपचाप जातिके बालकोंके शिक्षणका, दलितोद्धारका, कृत्रिम जाति-पांतिके भयङ्कर रोग निवारणका, कर्महीन जातिमें श्रमजीविताके प्रति आदर-स्थापनका कार्य्य-भार तुम्हारे ऊपर है। देखना, धीर बनना। कन्धा हटा न लेना। वेदका पतित-पावन सन्देश सुनाने वाले तुम्हींमेंसे होंगे। सावधान ! फूटती हुई धर्मकी कोंपलोंको संसारके वैभवकी अग्निसे झुलस न देना। वेदमाताके मीठे तराने अब भी ईरावती और चन्द्रभागाकी तरङ्गोंमें हैं, पर हा ! जल-तरङ्ग बजाने वाले कहां? तो क्या मातृभक्तिका शुद्ध-भाव वेद-माताके उद्धारक न पैदा कर सकेगा ? उत्साहको धारण करो। बद्धपरिकर होकर इसी धुनके धनी बन जाओ। विजय चरण चूमनेकेलिये वह देखो, आरही है।

७. वेदमाताका [illegible] : [illegible], सती, [illegible].

सुवीर, वनिताओंके युगको वापिस लावेगा। सुमित्रासे फिर लक्ष्मण-यति इस देशकी रक्षाकेलिये मैदानमें उतरेंगे। घरकी स्वामिनियां अच्छी होंगी। देश हितको समझेंगी। अपने दूधमें स्वदेश-भक्ति, स्वभाषा-भक्ति, स्वधर्म-भक्ति, स्वसाहित्य-भक्ति, स्वसंस्कृत-भक्तिकी घुट्टी घोल २ कर मीठी २ लोरियां सुनाते २ पिला देंगी। क्या यह भविष्यभारतका दृश्य भव्य प्रतीत होता है? तो, जागो। उच्च विचारोंको हृदयमें स्थान दो। क्षुद्र वासनाओंकी तृप्तिमेंही बहुमूल्य मानव जीवनको नष्ट न करो। आओ, धीर बनो और अपने जीवनकी नींव अपनी प्यारी माताके पवित्र चरणोंमें रखदो!

—※:०:※—

२६—शान्त-गगनकी गूंज।

१. काली, अंधेरी अमावस्याकी रात है। दूसरा पहर आरंभ हो गया है। वायु शान्त है। भूमि और आकाश शान्त हैं। दीपक बढ़ाए जा चुके हैं। जलचर, खेचर और भूमिचर, सब प्राणी विश्राममयी निद्राकी गोदमें पड़े हैं।

२. इस सन्नाटेकी दशामें चारों दिशा साए २ के शान्त, गंभीर रागका आलाप कर रही हैं। दूर बहती हुई नदी गड़ गड़ाती हुई, मानो, अपने आन्तरिक भयको प्रकट करती है। वायुके शान्त झकोरेसे पत्ता भी हिलता है, तो झट खटका सुनाई देता है। इस विशाल शान्त मण्डलको कभी २ कोई दुःखी दिल अपने क्षीण नादसे कंपा देता है।

३. तारागण आकाशमें नाचते कूदते हुए कुच्छ कह रहे हैं। इन्हें ऐसा ही करते हुए हज़ारों, लाखों और कोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। इस अन्तरमें असंख्य प्राणी पैदा होकर चलते बने हैं। आजमैं और ये सब मेरे साथी और संबंधी, इस नाट्यशालामें भिन्न२ भूमिकाओंमेंसे होते हुए,रंगरलियां मनाते२ बेसुध होरहे हैं।

४. देखो,एकाएक इन मुस्कराते हुए तारोंने खिलखिला कर हंसना आरंभ कर दिया है। सुनो २ यह हमारी ओर इशारा करते हुए आपसमें क्या कह सुन रहे हैं। क्या यह नींदका झोंका है, या सच मुच तारे ही बोल रहे हैं?

५. आंखें बन्द हो गयी हैं। ऊंघते २ फिर कभी २ जाग खुलती है, तो दूरसे कुत्तोंके भौंकने की भयानक ध्वनि हृदय को थर्रा देती है। ज्यों ही ऊपरको आंख खुलती है, तो तारोंका तांता वैसे ही बंधा हुआ दिखाई पड़ता है। बड़ी विचित्र दशा है। न नींद आती है और न कुच्छ समझमें ही आता है। इतनेमें प्रभात हो जाती है। लोग उठकर बाहिर जाने लग जाते हैं।

६. हमारी तरह अनेक लोगोंने इस दृश्यको देखा है, परन्तु किसी विरलेने ही तारोंकी इस गुह्य भाषाको समझ पाया है। जिसे इसे भांपनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है,उसका नाम मानव इतिहासके नभोमण्डलपर ध्रुवकी तरह ध्रुव हो गया है। पर यह इशारे कुछ समझमें नहीं आते। यह तारोंकी हस २ क्या कहती है?

७. यह इनके अन्दर निरन्तर जलती हुई सामग्रीको स्मरण कराती है। यह सूर्य भगवान्‌को इस महायज्ञक

होताके रूपमें हमारे सामने लाती है। यह चमकती हुई रश्मियां उसी तेजके पुंजकी भट्टीके सदा गरम रहनेका परिणाम है। यह लसक और यह चमक जलनेके विना पैदा नहीं हो सकती। इस शान्तगगन सन्देशको मूलशंकरने इस पुण्य महाशिवरात्रिके कौतुकमय वायुमण्डलमें क्योंकर सुना? इस प्रश्नसे क्या लाभ होगा? न जाने, उसे किस कर्म-संचयके कारण ये दिव्य श्रोत्र प्राप्त हुए थे। यह हम कैसे पा सकते हैं? हमारे लिये तो एक ही काम उपयोगी हो सकता है। इसे सुने हुए संदेशकी गूंजको फिर ध्यानसे सुनें और 'जलना' सीखें! 'जलना' दूसरोंको सुखी देखकर नहीं, वरन् दुःखी देख कर।

८. दयानन्दने इसे अच्छा तरह सीखा था। आज उसका नाम हृदयमालाका सुन्दर मोती बन रहा है। क्या हम भी इस प्रकार कुच्छ करनेको तय्यार हैं? क्या भारतवर्ष तथा संसारमें अविद्याका बीज-नाश हो गया? क्या पाप पाखण्डका सिर कुचला गया? क्या व्यक्ति तथा जातिने अज्ञानसे मुक्त होकर, धर्मको अपने जीवनका आधार बना लिया है? क्या मोह मायाके स्थानपर परमात्माकी पूजा नर नारीके हृदय-मन्दिरमें होने लग गई है? क्या अन्याय तथा अत्याचार स्वप्नकी नाईं अब भूल चुके हैं? क्या अछूतका भूत हमारे हां अब भूत हो चुका है? क्या वेदवाणी तथा आर्य भाषाके नातेमें हम सब बंध कर एक हो चुके हैं?

९. इनका क्या उत्तर देते हो? इस प्रश्नमालाकी कोई अवधि नहीं, पर मैंने इन सबका एक ही उत्तर 'नहीं' के

अमंगल विलापमें सुन लिया है। ऋषिका महत्त्व समाज-सेवामें गुप्त है। यह नीचे, गलने, सड़ने वाले बीजका सुन्दर वसन्त-पुष्प है। इसे देख कर उसे भूल न जाना। फूलकी सुन्दरता तभी ठीक है, जब अपने जैसे पैदा करनेके लिये, फिर बीजरूप होकर पृथिवी पर बिखर जावें। क्या दयानन्द-पुष्प बिखर गया है? इसका उत्तर हमारे जीवन देंगे।

१०. विद्यासमुद्रके पार जाने वाले युवक नाविको! कुच्छ भेण्ट लेकर चलो। ऋषि जीवनके लॉग मांगेगा। पोटली भर कर ले चलो। अब संकोच क्या है? ऋषि जलकर 'जलना' सिखाता है। इसे सोचो और विचारो। दयानन्द तारोंमें तारा हो चुका है। उनकी लसरमें उसकी लस २ मिल चुकी है। हज़ारों, लाखों और करोड़ों इस जलती हुई ज्वालासे प्रकाश लाभ करेंगे। कोई २ विरला, कूद कर ज्वालारूप बननेका भी साहस करेगा।

११. नीरव गगनसे गूंज उठ रही है। तारे चमकते हैं। वह ऋषियोंका तारा भी चमकता है। हम कुच्छ देर देखते और फिर करवट बदल कर सो जाते हैं। भान्ति २ के स्वप्नोंमें रात्रि चली जाती है। क्या कोई धीर, वीर, महा-मना ऋषि-भक्त इस तारेकी ओर भी टिकटिकी लगाए आंखोंमें रात निकालता है? यदि कोई है, तो आओ, दिन चढ़ते ही उससे जाकर सुनें तो सही कि ऋषि हमें क्या सन्देश दे गये हैं।

——*:o:*——

२७—वीर-घोषणा ।

१. रात गई, प्रभात हुई । कोई २ तारा आकाशमें हैरान हो २ कर अपने साथियोंको तलाश कर रहा है । अह ! इन बेचारों का यत्न सफल होता दिखाई नहीं देता । वह देखो, पूर्वकी ओर पोह फूटने लगी है । प्रातःकी लालीको यह निःसहाय, अकेले दुकेले तारे क्या सहेंगे ? इनका नाच तो अन्धेरी रात्रिको ही रिझा सकता था ! एक २ करके यह चुपकेसे भाग रहे हैं । आनकी आनमें सारा गगन-तल ऐसे साफ हो गया है, जैसे, मानों, न यहाँ कभी अन्धकार ही था और न कभी तारों और चन्द्रमाके कल्लोल ही हुए ।

२. पक्षियोंने वृक्षकी शाखाओंके अन्दरसे चहचहाना आरम्भ कर दिया है । गलियों और महल्लोंमें पालतू पशु और पक्षी भी अपना २ शब्द करने लग गये हैं । खिड़कियां और द्वार शनैः २ खुल रहे हैं कोई २ उद्यमी, अभ्यासी भ्रमण अथवा भगवद्भक्तिके लिये बाहिर निकल पड़ा है । बहुतेरे ऐसे सुहावने समयके शीतल वायुके झकोरोंकी मस्तीमें अंगड़ाइयां ले २ कर नये सिरेसे चादरें तान २ कर अकड़ते जाते हैं । इन्हें उठा कर खड़ा करनेके लिये किसी वीर योधाकी ही अपेक्षा प्रतीत होती है ।

३. बाहिर खुले मैदानोंमें हरी २ घास क्या है, मानों, थके हुए अंगों को सुस्तानेके लिये मखमल का बिछौना बिछा है । पर हो दैव, यह क्या है ! क्या यह किसी ऐसे ही लेटने वालेके शारीरिक शृङ्गारके साधन, बड़े २ निर्मल मोती बिखरे

पड़े हैं ? नहीं, यह कैसे हो सकता है ? कोई एक स्थानपर हो, तो यही समझ लूं। यहाँ तो जिधर को आँख दौड़ती है, वहीं दूरसे ही यह चमकते हुए दिखाई पड़ते हैं। हो न हो, मैं भूल तो नहीं रहा ? अपना स्थान छोड़ते हुए तारोंने ही इन आंसुओं द्वारा अपने हृदय का भार हल्का किया हो ? यह मोती नहीं। मेरे पाँव तो गीले हो रहे हैं। यह पानी है और शोकका पानी है।

४. वह पूर्वसे सहस्रों रश्मियोंके जालका केन्द्रबना हुआ दिन-श्रीका नायक सूर्य भगवान् निकल आया है। प्रतीत होता है, इस वीरको प्रकट होनेके लिये बड़ा घोर उद्योग करना पड़ा है । इसकी लगातार तपस्या की मुहर इसकी लालीपर लगी हुई है । इसीसे यह प्रस्वेद-जल भूमि-तल को गीला कर रहा है। यह तारोंके शोकका नहीं, वरन् सूर्यके कड़े तपका प्रमाण है । तभी तो इस पर नंगे पाँव चलनेसे चित्तको शान्ति प्रतीत होती है । विना कष्ट पाये, सुख कहां ? विना उद्यम किये प्रकाश कहाँ ?

५. शनैः२दिन बढ़ा और सारा संसार अपने२ कार्योंमें लग गया। वह मध्य रात्रिकी मृत्युमयी शान्ति कहां और यह जीवनकी द्योतक भारी ध्वनि कहां ? यह फल उस वीर भानुके प्रचण्ड तपका है ? इतना तेज, इतना पराक्रम और इतना आत्म-त्याग ! यह हमारा जीवन-दाता और सच्चा मित्र है। ज्यों २ अस्त होनेका समय समीप आरहा है,यह नीचे उतरता हुआ भी त्यों २ अधिक लाल हो रहा है। सारी पश्चिम दिशा सोनेके रंगसे भर गई है । बादलोंने हेमका रूप धारण कर लिया है। वीर योधा इस सुनहरी चहल पहलके अन्दर विदा

होने लगा है। उसका चित्त विशेष उमङ्गसे भर रहा है। अपनी किरणोंको खींचता हुआ, वह गया, वह गया।

६. लोग घबरा गये। अन्धेरेने आक्रमण करनेका ठीक समय पहचाना है। छोटे २ दीपक रह २ कर उस महा-दीपकको याद कराते हैं। ऊपर आंख उठाई, असंख्य तारे और उनके मध्यमें रजनीपति चन्द्रमा हंस रहे थे। किस पर हंस रहे थे? लोगों की घबराहट और अन्धेरेकी धृष्टता पर। इनका शीतल प्रकाश उसी प्रचण्ड प्रकाश का प्रति-फल है। व्यायाम और तपके अनन्तर, ठण्डक पहुंचाने वाले विश्रामका भी उपयोग है। इसमें वह जलती भट्टी की लाली न रही, निर्मल, शान्त प्रकाश तो है। चूल्हेकी शान्त राखमें और इसमें भेद है। इसका अपना अनूठा रस है। इसका सबसे बड़ा उपकार यह है। कि जीवित जागृत प्राणियोंके हृदयोंमें सूर्यकी चाहको जीवित रखता है। इस दिव्य मुस्कयानमें अद्भुत आश्वासन और दिलासा भरा हुआ है। यह इसीका ही प्रभाव है कि जब प्रातः होते ही पुनः सूर्य उदयोन्मुख होता है, तो हम उसका स्वागत करने के लिये द्वारपर तय्यार खड़े होते हैं।

७. काली, अन्धेरी रात्रि थी, जिसके मृत्यु-नादको बजानेका सौभाग्य ऋषि दयानन्दको प्राप्त हुआ। वह सच्चा, वीर योधा था। उसे अपने दिव्य प्रकाशको पैदा करनेके लिये कितना कुच्छ तप करना पड़ा, यह कौन नहीं जानता? सारी आर्यप्रजाका जीवन, यदि कुछ शेष था भी, तो बुझी हुई राखके समान हो चुका था। कहीं २ हिलानेसे कोई लाल चिंगारी भी शायद दिखाई पड़ जाती हो, पर उसकी सत्ता इतनी निःसत्त्व हो चुकी थी कि बाहिरकी साधारण वायु ही

उसे शान्त कर देनेके लिये पर्याप्त थी। स्वामी जी महाराजने अपने दिव्य जीवनके यज्ञमें यौवनकी आहुति डाल दी। उनका तप, उनका त्याग, उनकी विद्या, उनका योग, उनकी शक्ति और उनका ब्रह्मवर्चस् बल—सबके सब इस यज्ञमें चरु बने।

८. प्रकाश हुआ, अन्धकार निवृत्त हुआ। सहस्रों वर्षोंसे सोई हुई प्रजाके कानोंमें, घर २ जाकर ऋषिने वीर घोषणाकी और हम सबको जगाया। इस समय इस जागृतिका प्रभाव देशके चारों कोनोंमें फैलता हुआ दिखाई दे रहा है। इस समय इस वीर घोषणाकी गूंज दूर २ से आरही है। आर्य-सभ्यता, आर्य संस्कृति, आर्य धर्म, आर्यसंगठन और अन्य अनेक इसी प्रकारके शब्द सर्व साधारणकी जिह्वा पर हैं। आज ऋषियोंकी भूमिमें आर्ष ज्योति फिरसे चमकती हुई प्रतीत होती है। आज प्राचीन धर्मकी पताका फिरसे लहराती हुई दिखाई देरही है। आज 'राम राज्य' की परिभाषा फिरसे राजनैतिक नेताओंके विचारका आदर्श बन रही है। आज साम्यवादको सामाजिक मर्यादाका प्राण समझा जारहा है। आज दलितोद्धारको धर्मका अंग बनाया जारहा है। आज गौ, अनाथ और अबलाकी मर्मवेधिनी पुकार सुनी जाने लगी है। आज सादा खादीके पहनावेमें, अपनी प्यारी मातृभाषाके प्रयोगमें, पूज्य देव-वाणीकी सेवामें और वेद माता की आराधना में लज्जा नहीं, वरन् गौरवका भाव उत्पन्न होता चला जारहा है। आज आर्यसमाज एक जीती जागती संस्था है, जिसका लोहा सब लोग मानते चले आते हैं।

९. पर यह आरम्भ था, समाप्ति नहीं। बीज डालना था, फल उतारना नहीं। इसके महत्त्वका बखान निराशा वादियों

तथा हठधर्मियोंको जगानेके लिये था, आगेके लिये पुरुषार्थ रोकने के लिये नहीं। इसका विस्तार कार्यकर्त्ताओंको सुझानेके लिये था, घर बैठ कर फूलनेके लिये नहीं। अभी उपर्युक्त मार्गका खोलना तथा सिरतक पहुंचना शेष है। क्या तुमने आर्य भाषाको अपने नित्यके जीवनके प्रयोगमें लाना आरम्भ कर दिया? क्या ऋषियोंके वचनोंको श्रद्धापूर्वक मनन करते हुए, अपने जीवनका अंग बना रहे हो? क्या वेद विद्याकी सेवाकेलिये अपने यौवनको लगा रहे हो? क्या तुम्हारे अन्दर प्रभुके चरणोंमें बैठनेसे आनन्द-रसका स्रोत बहने लग गया है? क्या मन, वचन और कर्मसे तुम सत्यके भक्त बन रहे हो? क्या तुम्हारे अड़ोस पड़ोसमें तुम्हारे सुखी रहते हुए कोई दीन दुःखी और अपाहज भूखों रातें तो नहीं काट रहा? क्या तुम्हारी गलीमें कोई अनाथ और अबला अन्दर ही अन्दर तो नहीं घुल रहे? क्या तुमने लौकिक और परलौकिक स्वराज्यकेलिये तय्यारी आरम्भ करदी है? क्या तुम आत्माको परमात्मामें लीन करना समझ रहे हो? प्यारे बोलो। अब क्यों चुप हो?

१०. वीर योधा अस्त हो चुका है। पर यह वैसे ही है, जैसे सूर्यका अस्त होना है। वह जहां होगा, वहीं अपने प्रकाशसे प्रजाको जीवन प्रदान कर रहा होगा। पर यहां उसकी स्मृतिको स्थिर रखने तथा उसके बताए हुए कार्य्योंकी पूर्त्तिके लिये शान्त-रससे युक्त कार्य स्थिर रखने वाले, सेवा-धनके धनियोंकी अवश्यकता है। उन तारों और चन्द्रोंकी ओर जगत् टिकटिकी बान्ध देखता है, जो अपने धवल-यशसे हमें उत्साह-

वान् और सुखी बना दे। ऐ विद्यामन्दिरोंमें देव-दर्शनकेलिये आने वाले युवको! क्या आचार्य दयानन्दके रचाये हुए यज्ञके लिये तुम भी कुछ करोगे? तो आओ, आज ही अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करो। अपने अन्दर वह ज्योति जगाओ, जो चारों ओर प्रकाश कर दे। छोटे २ लक्ष्यों और विचारों को हीन समझ कर अपना अमूल्य मानुष-जीवन उनकी भेंट क्यों करो? क्यों न तुम्हारा पद भी संसारके इतिहास गगन तल पर ध्रुवकी तरह स्थिर हो? क्यों न धर्मश्री स्वयं अपने करकमलोंसे तुम्हारे गलेमें जयमालाको सुशोभित करे? क्यों न तुम्हारे वीरोचित उदय और अस्तमय पर सब देवता मिल कर जय २ की ध्वनिसे भूमि और आकाशको निनादित करदें? आओ, प्यारो, जागो। वीर घोषणा अभी उसी प्रकार हो रही है। सुनो, ध्यानसे सुनो। सुनो, इसे अपने अन्दर पूरे प्राण-बलसे धारण करो और अपने उज्ज्वल तेजसे सहस्र गुणा करके इसका विस्तार करो॥

—:o:—

२८—शिवोदय।

१. समयके बीतनेकी भी लीला है। पल, घड़ी और पहर का हिसाब क्या रखा जावे। यहां तो दिन सप्ताह, मास और वर्षोंका भी कोई ठिकाना नहीं। तीन लम्बे वर्ष इसी प्रकार बीत चुके हैं। परन्तु हमारी आंखोंके सामने तो अभी उसी तरह सिंह की नाईं गर्जते हुए, राष्ट्र राजा तेजसिंहका चित्र

खड़ा है। वही मथुराकी रौनक है। वही विशाल मण्डप, वही ऋषि-नगरीकी सजधज। वही पंजाबी पेचके अन्दरके और दूसरे दूर २ तक फैले हुए कैम्प! आह! क्या यह समारोह भूतकाल की सम्पत्ति हो चुकी है! अब कौन कह सके कि हममेंसे कोई ऐसा मेला फिर भी देख सकेगा कि नहीं!

२. निःसन्देह, यह सब कुच्छ बीत चुका। केवल यही नहीं, वरन् अब हमें ढारस बंधाने को राव राजा भी नहीं रहे। न ही राजाओं के कान में 'वैदिक कोष' की धीमी बांसुरी बजाने वाले, स्वामी विश्वेश्वरानन्द मौजूद हैं। आह! क्रूर लेखनि, तू थोड़ा धीरज तो धरती। हे मनुष्योंमें देवताओंकी नांई बसने वाले, उबलते हुओंको शान्त, शीतल वचनोंसे ठण्डा करने वाले, बिछड़ोंको मिलाने वाले, लड़तोंको गले लगाने वाले, इन कालेजों,स्कूलों और अन्य संस्थाओंकी नींवमें बज्रकी नांई चुपचाप जीवन व्यतीत करने वाले, धन और मानकी कभी परवाह न करने वाले, त्याग-स्वभाव पण्डित लखपतराय आप भी इसी प्रकार भूत कालके गालमें गुप्त हो चुके हैं।

३. और, स्वामी श्रद्धानन्दका ओजस्वी दर्शन भी अब इन आंखोंसे न हो सकेगा। उनके बलिदानने इसलामी और आर्य सभ्यताओंको परस्पर सामने रख दिया है। वह समय कब आवेगा, जब लोग मानव जीवनके लक्ष्यको समझते हुए, परस्पर मिलकर रहना सीखेंगे? कब विषमता दूर होगी, और समताका साम्राज्य होगा? कब अत्याचार और घृणाका नाश होगा? कब प्रेम और प्रीतिकी गंगा प्रत्येक हृदयमें से बह निकलेगी? स्वामी जी की उल्लास पैदा कराने वाली स्मृति

भारतकी आने वाली नसलोंको धार्मिक युद्धमें अग्रसर होकर लड़ने और धर्म, वेदीपर बलिदान होनेके लिये उभारती रहेगी। प्रभुने उन्हें जर्जरित देहसे छुट्टी क्या दी है, मानो, गलेमें जयमाला धारण कराकर, अमर कर दिया है । आर्यवर्गमें ऐसी ही श्रद्धा और ऐसे ही आनन्दकी सदा वृद्धि हो।

४. हे शिवरात्रिकी कल्याणमयी रात्रिमें उद्बोध यात्रापर पांव जमाने वाले ऋषे, हे ऋषिके दिखाये हुए मार्ग पर चलने वाले ऋषि-भक्तो! हमें भी कोई मार्ग दिखानेवाला रहा है या नहीं? कई समस्याओं और उलझनोंको सुलझानेकी अपने अन्दर शक्ति न पाने वाले मन, निराश न हो। ऋषि दयानन्दने जिस नौकाका सहारा लेकर भवसागरको पार किया, उसके भक्तोंने जिसके आधारपर अपने आपको डूबने और डोलनेसे बचाया, तुम भी उसकी शरणमें पहुंचो । वेद माताका आंचल दृढ़तासे पकड़ो। देखो, इसके सूक्ष्म संकेतों को समझते हुए, मार्गपर पग धरते जाना। इसकी छत्र-छायामें निःशंक होकर बढ़ते चलो।

५. अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि। यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥ ऋग्वेद ॥

अर्थः—कौन लोग सुखी, निपुण और वृद्धिशील होते हैं? धार्मिक मर्यादाको प्रतिष्ठित करते हुए, वे कौन हैं, जो उत्तम सन्तान, ज्ञान तथा अन्य सर्व प्रकारके विस्तार द्वारा जीवन के असली और मधुर फलोंका आस्वादन करते हैं?

जिन सौभाग्यशील लोगों को आदित्यरूप नेता प्राप्त होते रहें, जो उन्हें उत्तमोत्तम नीति द्वारा, सब संकटों सेबचाते हुए, शुभ मार्ग पर ले चलें ।

६. सामाजिक सुखके लिये नेताओंको योग्य, विचार-शील, विवेकी, धृतिमान् तथा सहृदय होना आवश्यक है । आर्यधर्म उन नियमोंका वाचक है, जिनके धारण करनेसे मनुष्य सच्चा आर्य, अर्थात् आश्रय करने योग्य, दीन, अनाथ, अबलाओंका रक्षक और ईश्वर-भक्त बन जाता है । वह सदा अन्याय और कुनीतिसे बचता है । वह सदा उत्तम गुणोंका विस्तार करता रहता है । यदि इस प्रकारके धर्मका आश्रय लेकर भी हमारी दीन दशा ठीक न हो, तो यही समझो कि हम जलके शुद्ध स्रोतके किनारे भी प्यासे ही खड़े हैं ।

७. ऋषि भक्तो, पूर्वोक्त मन्त्ररूपी प्रसाद स्वीकार करो । इसीके मनन तथा आचरणसे कल्याणकी आशा हो सकती है । वस्तुतः शिवोदय तभी होगा, जब हमारे धार्मिक कार्योंका प्रबंध, संचालन तथा निरीक्षण आप्त, विद्वान्, सदुपदेशकवर्गके हाथमें होगा । जब तक हमारे धार्मिक चक्रके प्रचालनमें क्षुद्र, सांसारिक लोभ, मोह, अहंकार, प्रधानतादिके भावोंका प्रभुत्व रहेगा, तब तक हमारी कठिन समस्याएं न सुलझेंगी ।

८. संघ-शक्तिको प्रकट करके वेदप्रचारको लेख, वाणी और जीवन द्वारा सर्वत्र पहुंचा देना चाहिये । हमें आशा करनी चाहिये कि जो आर्यसमाज बड़े २ विशाल कालेज और गुरुकुल स्थापित कर सका है, जिसके अन्दर पण्डित लखपतराय जैसे सेवक और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे वीर प्रकट

हो चुके हैं, जिसने सार्व-जनिक कार्योंके लिये जन-शक्ति तथा धन-शक्तिको पानीकी नाईं बहाया है, वही आर्य समाज अपने जीवनकी समस्याको सोचनेके लिये भी किसीसे पीछे न रहेगा। इसका इशारा होगा और इसकी अपनी रक्षाके लिये योग्य, त्यागी, तपस्वी युवक, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी निकलेंगे।

९. जागो, सोई हुई शक्तियो, जागो। नींदको छोड़ो और अपने कर्त्तव्यको चेतो। वह देखो, सत्य, भक्ति, प्रेम और विश्वासका झंडा खड़ा किया जा चुका है। उसके नीचे इकट्ठे हो जाओ। ऋषियोंके पवित्र वचनोंको नर, नारीके कानों तक ही नहीं, वरन् हृदय तक ले जाओ। स्वामी जी महाराजके उद्देश्यको पूरा करो। धर्म और मर्यादाके नामपर अधर्म और अंध विश्वास, दंभ और अत्याचार, धड़ाबन्दी और हठधर्मीको मत रहने दो। नवयुवको! देखो, पुराने शुद्ध हृदयवाले ऋषि-भक्त एक२करके जा रहे हैं। सारा भार अब तुम्हारे ऊपर है। देखना, इस समय कंधा हटा कर, आशाओंको चिकना चूर न कर देना। जो थोड़े से वृद्ध वीर योद्धा मैदानमें मौजूद हैं, उन्हें विदा होनेसे पूर्व यह सन्तोष हो जाना चाहिये कि उनके दाएं बाएं नये जीवनके संचारसे युक्त, सैनिकोंके दल तय्यार हो कर खड़े हैं। प्रभो, यही हमारे हृदयकी कामना है। हे वरोंके प्रदाताः, स्वीकार करो, स्वीकार करो।

॥ ॐ शम् ॥

अत्यन्त शीघ्रताके कारण कुछ अशुद्धियां छपनेमें रहगई हैं।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११.	१०.	अग्रणीय	अग्रणी
२२.	६.	से भिन्न	के मित्र
४०.	१४.	दयानन्दकेने	दयानन्दने
४१.	१९.	करने वाली	करने वाले
४६.	२०.	स्पृत्वात्यातिष्ठत्	स्पृत्वात्यतिष्ठत्
६०.	१६.	कठिक	कठिन
७१.	११.	घर्म	धर्म
७३.	२४.	यन	बन
१०२.	७.	वास्तव	वास्तवमें
१०३.	३.	व्यहार	व्यवहार
१०४.	७.	शन्दोंमें	शब्दोंमें
१०८.	१९.	अधिकरों	अधिकारों
१०८.	२४.	अविष्कार	आविष्कार
१११.	१८.	ब्राह्मणोंके	ब्राह्मणोंको
११३.	१२.	परोपकार्थ	परोपकारार्थ
११३.	२४.	स्थानपन्न	स्थानापन्न
११६.	२१.	प्रन्तोंमें	प्रान्तोंमें
१२०.	१८.	कपनी	अपनी
१२९.	४.	यगा	गया
१४९.	६.	सामज	समाज
१६८.	१७.	सौभाग्यवा	सौभाग्यवान्
१६८.	१८.	आन "	आनमें